ओइम् नमो भगवते वासुदेवाय

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

ओ३म् नमो
भगवते वासुदेवाय

ओऽम् नमो भगवते वासुदेवाय

मण्डेलिया परमार्थ कोष
जियाजीराव कॉटन मिल्स
ग्वालियर, म० प्र०

प्राप्ति-स्थान
मण्डेलिया परमार्थ कोष
जियाजी राव कॉटन मिल्स
ग्वालियर, म० प्र०

चतुर्थ संस्करण : १९८१

मूल्य : पाँच रुपये

●

मुद्रक
भारती प्रिण्टर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

कहा गया है कि भक्त और भगवान् का परस्पर का प्रेमसम्बन्ध है—'हम भक्तन के भक्त हमारे'। भक्त की भक्ति-भावना में कमी हो सकती है, पर भगवान् सदैव अपने भक्त का स्मरण रखते हैं। जिस किसीने भी जिज्ञासु होकर, आर्त्त होकर और स्वार्थ-भावना से भी तथा ज्ञानपूर्वक अनन्य रूप से एक बार भी भगवान् का स्मरण किया, उसका दुःख हरने के लिए वे तुरंत दौड़े आते हैं। दूसरे सारे सहारे छोड़कर केवल एक भगवान् का आश्रय पकड़ लेना ही अनन्य भक्ति-भावना है। यह नित्य के अभ्यास से ही सम्भव है। परन्तु अभ्यास में अहंकार नहीं होना चाहिए। यह अभ्यास भगवान् के अनुग्रह से ही बन सकता है।
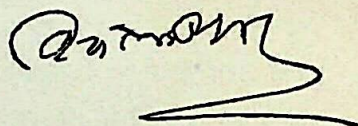
भगवान् का स्मरण और गुणगान अभ्यासपूर्वक नित्य नियम से किया जाये। भगवान् के गुण क्या हैं? वह तो निर्गुण है, त्रिगुणातीत है। परन्तु वह सगुण भी है। करुणा, भक्तवत्सलता, समदर्शिता और बिना किसी हेतु के कृपा यह उसके दिव्य गुण हैं। अपनी ओर हम देखते हैं तो दोषों और पापों में बहुधा लिप्त पाते हैं। पाप-पंक में फँसे रहना किसे प्रिय है? उससे तो उद्धार ही पाना है। विश्वास रखें कि उद्धारक केवल भक्तवत्सल भगवान् हैं।

सहस्रों स्तुतियाँ, अनेक देवों और देवियों की, समय-समय पर भक्तों द्वारा रची गई हैं। परन्तु वे सब एक ही परमेश्वर की स्तुतियाँ हैं—'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' अर्थात् ज्ञानियों ने एक ही सत्यनारायण का अनेक रूपों में और अनेक नामों से विविध प्रकार से वर्णन किया है।

पुराणों में सर्वश्रेष्ठ श्रीमद्भागवत विविध स्तुतियों का महान् भण्डार है। उसमें से केवल ११ स्तुतियों का संकलन 'ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय' नामक इस पुस्तक में किया गया है। कुन्ती, ध्रुव, प्रह्लाद,

गजेन्द्र आदि परम भागवतों की स्तुतियाँ इसमें ली गई हैं। इनके पाठ से, स्मरण से और मनन से स्तुति करनेवाला पाता है कि वह कहाँ पर है, संसार में वह किसलिए आया है, और उसका परम कर्त्तव्य क्या है? भगवान् की अनुपम महिमा और परम अनुग्रह का ध्यान करके उसे आश्वासन मिलता है, शान्ति मिलती है और जीवन का सच्चा मार्ग मिल जाता है।

श्रीमद्भागवत के रस में आकंठ डूबे हुए स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने कृपा कर इस पुस्तक की शुभकामना लिख दी है। श्लोकों का अर्थ भी प्रायः उन्हीं का किया हुआ है। ऐसे परम साधु को क्या साधुवाद दिया जाये?

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमोनमः ॥

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीगणेशाय नमः
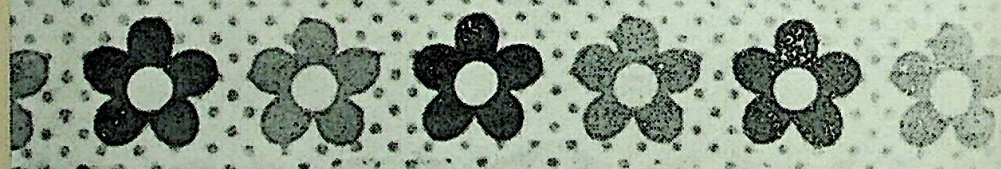
शुभकामना

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं।[1] भगवान् क्या हैं?[2] ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित अद्वय ज्ञान। इसी ज्ञान को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् नाम ने जाना जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण जगद्‌गुरु हैं। गुरु माने माता-पिता, शिक्षक, स्वामी एवं सद्‌गुरु। वे ही माता-पिता के समान सत् तत्त्व में आकृतियों का निर्माण करते हैं। शिक्षक के समान विशेष ज्ञान देते हैं। स्वामी के समान नियन्ता हैं। पति के समान आनन्ददाता हैं और सद्‌गुरु के समान द्वैतभ्रम को मिटानेवाले हैं। श्रीकृष्ण यथार्थ जगद्‌गुरु हैं।

व्यक्तिगुरु खण्डगुरु होते हैं। जगद्‌गुरु कौन होता है? जो सबमें बिना किसी भेदभाव के अपने सद्‌भाव, चिद्‌भाव और आनन्दभाव का प्रकाश करे; सात्त्विक, राजस, तामस सभी प्रकार के प्राणियों का हित करे। उसके लिए सब अपने हैं। सब-कुछ अपना स्वरूप है। जगद्‌गुरु, खण्ड जगत् का गुरु नहीं, अखण्ड जगत् का गुरु होता है। उसके मन में, चरित्र में, वाणी में किसी भी प्राणी का अहित नहीं होता। यही जगद्‌गुरु की पहचान है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम खण्ड में 'श्रीकृष्णं वन्दे जगद्‌गुरुम्' के जो अंश दिये गये हैं, उनमें भाव गम्भीर हैं, भाषा का प्रवाह सहज है, अपने विचार को अभिव्यक्ति देने में वह पूर्ण समर्थ है। इसके लिए लेखक की जितनी प्रशंसा की जाये थोड़ी है।

भगवान् की आराधना में स्तोत्र, स्तव और स्तुतियों का बहुत महत्व है। यह दूसरे महात्मा कवियों की रचना हो सकती है और स्वयं अपनी रचना भी। व्याकरण के अनुसार करण एवं भाव दोनों ही प्रकार की व्युत्पत्तियों से यह शब्द बनते हैं। श्रीमद्‌भागवत में अनेक प्रसन्न-गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण स्तुतियाँ हैं। जीवन

---

१. कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। (भा० १।३।२८)

२. वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ (भा० १।२।११)

के आदर्श एवं समस्याओं की दृष्टि से चरित्र, कुछ त्याग के लिए, कुछ ग्रहण के लिए, अन्तःकरण की शुद्धि और आत्मा के ज्ञान की प्रधानता से उपदेश हैं। भगवत्स्वरूप की अनुभूति और भावनाओं के लिए स्तोत्र हैं। ललित भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतियाँ हैं।

स्तुतियों में संसार की अनित्यता, जड़ता एवं दुःखरूपता का वर्णन करके उसमें अपनी आसक्ति होने के कारण दैन्य प्रकट किया गया है। अपने हृदय का सूक्ष्म निरीक्षण करके प्रभु के सामने उसका निवेदन है। आसक्ति छूटे और भगवान् से प्रेम हो। प्रेम से भरे लाख-लाख अभिलाष और लालसाएँ प्रकट की गई हैं। इनके साथ-ही-साथ प्रभु के स्वरूप, तत्त्व स्वभाव, प्रभाव-महिमा, गुण, लीला तथा चरित्र का भी वर्णन है। स्वरूप बोध के लिए, स्वभाव शरणागति के लिए, गुण प्रेम के लिए, लीला आनन्द के लिए और चरित्र शिक्षा के लिए होता है। श्रीमद्भागवत में एक नहीं, अनेक ऐसी स्तुतियाँ हैं, जिनमें समस्त शास्त्रों का सार-सार संगृहीत हो जाता है। जैसे गर्भस्तुति, ब्रह्मस्तुति, अक्रूरस्तुति एवं वेदस्तुति। वेद-वेदान्त के नवनीत को लोकभोग्य भाषा में अभिव्यक्ति देना इन स्तुतियों की विशेषता है। प्रस्तुत पुस्तक में श्रीमद्भागवत की कुछ उत्तम स्तुतियों का संग्रह हुआ है, जो साधारण अथवा असाधारण सबके लिए हितकारी हैं।

हमारे मध्यकालीन संत-महात्माओं ने अपनी रसमयी अनुभूति एवं काव्यमयी प्रतिभा से भगवान् के प्रति भक्तिभावना को जो संगीतमयी भाषा दी है, वह मधु-राति-मधुर है। यह किसी भी सहृदय व्यक्ति को भगवान् की ओर उन्मुख कर देती है। यदि सूर, तुलसी-जैसे संत कवि न हुए होते, तो यह भक्ति-भागीरथी की धारा, यह आस्था का सौरभ आज कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। उन्होंने रस-संगीत से हृदय को सुकुमार बनाया है, सौन्दर्य माधुर्य से आह्लादित किया है और जनमानस को दिव्य अमृत से परिपूर्ण कर दिया है। अंत में दिया गया उनके भजनों के विविध अंगों का यह संग्रह निश्चय ही लोगों के हृदय को श्रद्धा, भक्ति, चारित्र्य और अनुभूति से आप्लावित कर देगा।

अन्त में, इस पुस्तक के संग्रहकर्त्ता तथा ट्रस्ट को मैं बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे आगे भी ऐसे उत्तम ग्रंथों का प्रकाशन करेंगे।

अखण्डानन्द सरस्वती

मंगलं भगवान् विष्णुः मंगलं गरुडध्वजः।
मंगलं पुण्डरीकाक्षः मंगलायतनो हरिः॥

श्री घनश्यामदास विड़ला

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
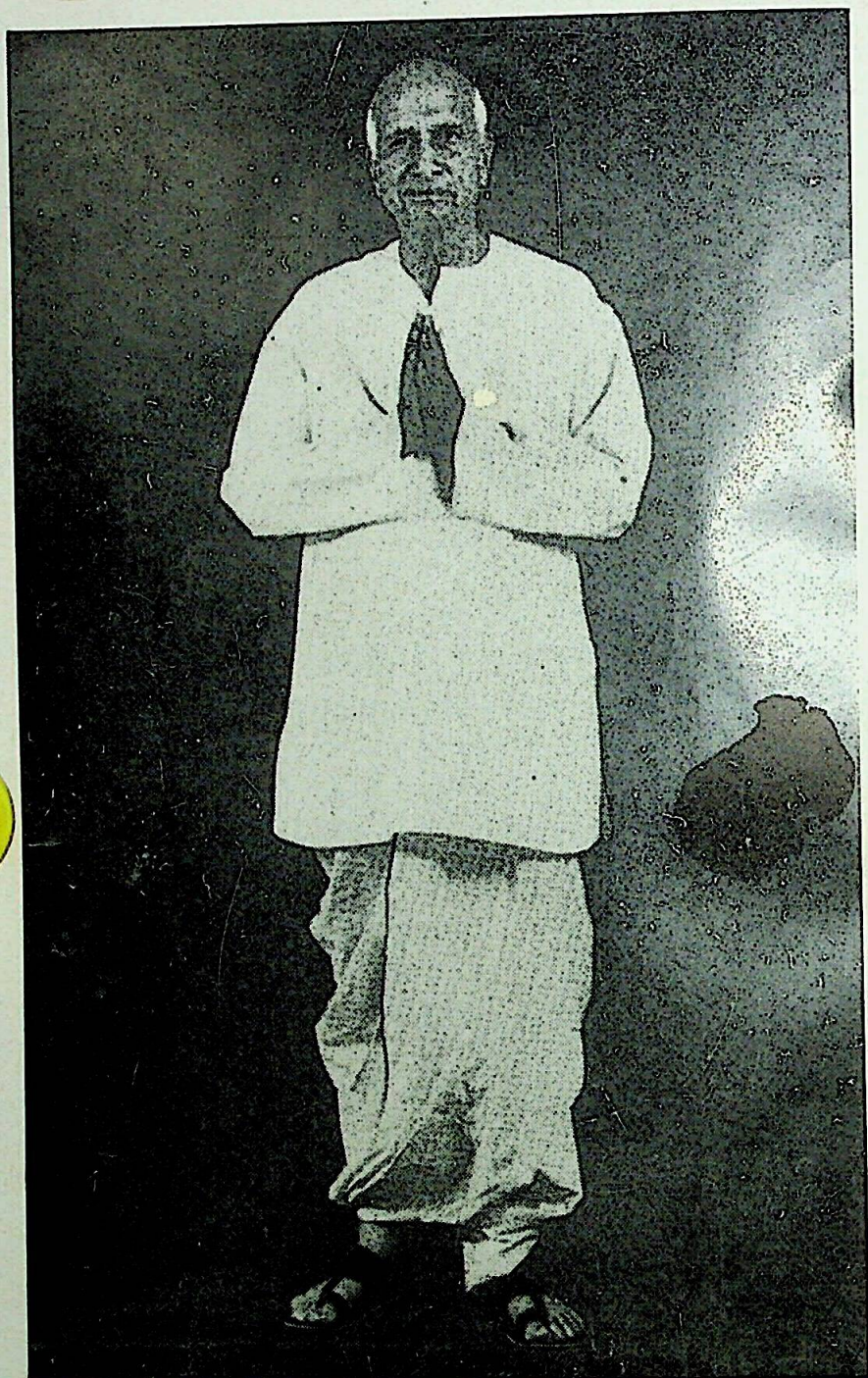
अभ्युदय का सरल मार्ग—भक्ति

बताया गया है कि नर और नारायण यह दो ऋषि थे। आगे चलकर इन्होंने ही कृष्ण और अर्जुन के रूप में अवतार लिया। इनके अवतार का हेतु भी यही बताया गया है कि इस लुप्त और जीर्ण भागवत धर्म का अर्थात् प्रवृत्ति मार्ग या निष्काम कर्म का जिसको कर्मयोग भी कहा गया है, जीर्णोद्धार करना। इस भागवत या नारायणीय धर्म का शाश्वत और एकांतिक धर्म के नाम से भी वर्णन किया गया है। शांति-पर्व में इस धर्म की व्याख्या में कहा गया है—

> नारायणः परो धर्मः पुनरावृत्ति दुर्लभः।
> प्रवृत्तिक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥

यह प्रवृत्ति मार्ग—नारायणीय धर्म—पुनर्जन्म का टालने-वाला है।

प्रवृत्ति का तात्पर्य है कि संन्यास न लेकर मरणपर्यंत अपने स्वधर्म का स्वार्थ और कामना-रहित होकर अनासक्त

भाव से कर्तव्य-कर्म समझकर पालन करते जाना। कर्म को न छोड़ें। क्योंकि कर्म छोड़ देने से अपना कर्तव्य-कर्म जो लोक-कल्याण या जन-कल्याण के लिए विहित है, उसका लोप हो जाता है। कर्म को यज्ञ बताया गया है, और कहा गया है कि यज्ञ में ब्रह्म है। इसलिए कर्म या यज्ञ का त्याग करना मानो ब्रह्म की अवहेलना है। सारांश यह है कि यह भागवत धर्म प्रवृत्ति मार्ग अर्थात् निष्काम कर्म का प्रतिपादक है और महाभारत-काल में इस लुप्त धर्म को श्रीकृष्ण ने पुनः स्थापित किया।

महाभारत के पात्रों के और विशेष करके श्रीकृष्ण के आचरण से हमें इसी कर्मयोग की अद्भुत शिक्षा मिलती है। इसलिए इसके स्वाध्याय से जन-समाज को कठिन समय में साहस और सहारा मिलता है।

भागवत भी भागवत धर्म का ही प्रतिपादक है पर इसमें और महाभारत में भेद यह है कि महाभारत में कर्म-योग पर विशेष भार दिया है और भक्ति को गौण स्थान दिया है। भागवत भी निवृत्ति मार्ग का पोषक नहीं है। यह भी प्रवृत्ति मार्ग और भागवत धर्म का ही प्रतिपादक है पर इसमें भक्ति पर विशेष आग्रह है।

इस तरह महाभारत और भागवत दोनों के पढ़ने से कर्मयोग और भक्तियोग इन दोनों मार्गों का स्पष्ट ज्ञान मिल जाता है।

गीता इस संपूर्णता की ओर और भी आगे बढ़ गई। कर्मयोग और भक्ति दोनों ही अंत में ज्ञान-प्राप्ति के साधक हैं। गीता में इन दोनों मार्गों के साथ ज्ञानयोग को मिलाकर ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय कर दिया है। गीता का यह सबसे बड़ा माहात्म्य है।

यद्यपि गीता में कर्मयोग का ही आग्रह है। पर गीता-कथित कर्मयोगी और भक्त के आचरणों में कोई विशेष अंतर नहीं है। गीता महाभारत का ही अंश है, इसलिए

साधकों को स्वधर्म-आचरण की प्रेरणा के लिए महाभारत एक अमूल्य ग्रंथ है।

पर इस अद्भुत ग्रंथ के लिखने पर भी व्यासजी को पूर्ण संतोष नहीं हुआ। क्योंकि महाभारत भी जन-साधारण के लिए कठिन और दुर्गम ही रहा। उस समय के समाज के मानस से हम काफी अनभिज्ञ हैं, पर कल्पना है कि उस काल का समाज सत्य धर्म से विचलित होकर अंधकार में टटोले मारता हुआ भटक रहा था। उस समय एक ऐसे नये मोड़ की आवश्यकता थी, जो इस समाज को फिर से सही रास्ते पर लाकर उसके उत्थान में उसे सहायता दे।

वेद सबके लिए बुद्धिगम्य नहीं थे, इसलिए पुरोहितों की चल गयी। तरह-तरह के यज्ञ-मात्र में ही कर्तव्य की इतिश्री समझी जाने लगी। महाभारत यद्यपि नीति और व्यवहार का अनुपम भंडार था, सुगम भी था, पर उसका मर्म भी जन-साधारण के लिए सर्वथा ग्राह्य नहीं था। इस काल-धर्म को समझकर व्यासजी को लगा कि महाभारत से भी और कोई एक सरल साहित्य की रचना की जाये जो साधारण जनता के लिए बुद्धिगम्य हो और उनके आचार-विचार को एक नया मोड़ देकर उनके नैतिक उत्थान में सहायक हो।

व्यासजी ने अपना यह असंतोष नारदजी के सामने प्रकट किया। व्यासजी ने कहा कि नारदजी, मैंने महाभारत तो लिखा पर इससे भी मुझे शांति और संतोष नहीं मिला है। इस पर नारदजी ने कहा, "भगवन्, आपने महाभारत लिखकर लोगों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए काफी मसाला दिया है, उनका कल्याण भी किया है, पर महाभारत में आपने कर्मयोग की उच्च शिक्षा दी है, कर्तव्य-अकर्तव्य का मार्ग भी समझाया है, पर आपने भक्ति की अवहेलना की है। साधारण मनुष्य के पास न बल है, न सामग्री है, न इतनी बुद्धि या आत्म-बल है कि वह उच्च विचारों को

आसानी से ग्रहण कर ले और उसी के अनुसार आचरण करे। इसलिए एक ऐसा मनुष्य जो सरकारी नहीं है वह महाभारत के महान् पात्रों से क्या शिक्षा ले, क्या ग्रहण करे और किस क्षेत्र में उनका अनुकरण करे ? और किस आचरण को त्याज्य माने ? ऐसे सामान्य लोगों के लिए तो भक्ति ही एकमात्र औषधि है, जो निम्न-से-निम्न श्रेणी के व्यक्ति का भी अभ्युदय कर सकती है। यह मार्ग अत्यंत सरल है। इसमें कोई बाधा या विघ्न भी नहीं है। इसलिए आप कोई ऐसा भक्ति का ग्रंथ लिखें जो साधारण व्यक्तियों की श्रद्धा को जाग्रत करके उन्हें भगवान् की भक्ति की ओर प्रेरित करे।"

व्यास भगवान् ने नारदजी के इस प्रस्ताव को मानकर श्रीमद्भागवत की रचना की।

२

नाम के सहारे तिर गए लाखों

भारतीय पद्धति के अनुसार साहित्य में रोचक, भयानक और यथार्थ विवरणों का प्रयोग किया जाता है। व्यासजी की यह कारीगरी है कि उन्होंने रोचक कथाओं का प्रयोग करके उनके भीतर गूढ़ वेदांत का रहस्य भर दिया है। इसके द्वारा जन समाज को भक्ति की ओर प्रेरित करके उनकी धार्मिक श्रद्धा को उत्तेजना दी है, और साथ-साथ वेदांत की भी शिक्षा दे डाली है। जिनको अध्यात्म में रुचि है वे इन अलौकिक कथाओं की अवहेलना भी कर सकते हैं या तो जैसे मिट्टी में से सोना संचय किया जाता है, उसी तरह इन अलौकिक कथाओं के भीतर छिपे रत्नों का संचय भी कर सकते हैं। आचार्य किसी को बाध्य नहीं करता कि वे वेदांत की अवहेलना करें

और केवल अलौकिक कथाओं को ही पढ़कर इन अतिशयोक्तियों की समालोचना करें। थाली में अनेक सामग्रियाँ सजाकर रखी गई हैं, अनेक तरह के भोजन हैं, सबके-सब मंगलदायक हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भक्त भागवत में से भोजन निकालकर उसके रस का आस्वादन कर सकता है।

मैंने कहा है कि भागवत के श्रीकृष्ण आराध्य, उपास्य और पूज्य हैं। भागवत के कृष्ण केवल भक्ति के लिए हैं। अनुकरण उनका असंभव है क्योंकि श्रीकृष्ण ईश्वर हों तो फिर ईश्वर का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।" भगवान् का अनुकरण कैसा! ईश्वर की तो उपासना ही हो सकती है।

पर महाभारत के कृष्ण पूज्य तो हैं ही, अनुकरणीय भी हैं। संसार की जटिल समस्याओं को सुलझाने में महाभारत के श्रीकृष्ण का चरित्र हमें सम्पूर्ण सहायता देता है। श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में अपना अनुकरण करने के लिए हमें प्रोत्साहन दिया है।

महाभारत के श्रीकृष्ण महापुरुष हैं, नीति-विशारद हैं और उस काल की शब्दावली में उन्हें योगेश्वर, बुध, धीर, कवि, प्राज्ञ और पंडित के विशेषण दिये गये हैं 'यत्र योगेश्वरो कृष्णः'। इसलिए महाभारत के कृष्ण-चरित्र का अत्यंत महत्त्व है। उनका जीवन-चरित्र, उनका अनुकरण, उनके उपदेश संसार-यात्रा के यात्रियों के लिए अत्यंत बोधप्रद हैं। उन्हें समझना और ग्रहण करना, उन पर आचरण करना और कठिन समस्या उपस्थित होने पर उनका अनुकरण करने का प्रयास करना—यह मनुष्य की संसार-यात्रा को सरल बना देता है।

यह सारा कथन अत्यंत महत्त्व का इसलिए है कि भगवान् आसक्ति त्यागकर और लोक-संग्रह के लिए हर हालत में हर मनुष्य को स्वधर्म का आचरण करने की शिक्षा देते हैं।

वैदिक यज्ञ-मात्र कर्म-काण्ड, विशेषतया पशुबलि और सोमरस की क्रियाओं, से आकर्षक रखे गये थे, और निष्काम

कर्म को गौरा स्थान दिया गया। उधर सांख्यों का कर्म-संन्यास पर आग्रह था। इन दोनों रास्तों से जनता को हटाकर सही मार्ग पर लाने के लिए ही श्रीकृष्ण ने भागवत धर्म को पुनः जाग्रत किया। भागवत धर्म, निष्काम कर्मयोग और भक्ति दोनों का सम्मिश्रण है और गीता का यही मुख्य विषय है। इस लुप्त धर्म को पुनः जाग्रत करने के संबंध में भगवद्गीता में भगवान ने अर्जुन को अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह 'योग' अर्थात् यह भागवत धर्म कर्मयोग जो मैं तुम्हें बता रहा हूँ वह नया नहीं है।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

मेरे लिए तीनों लोक में कोई भी कार्य बाकी नहीं रहा है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त नहीं है और जो कर्म करने से ही मुझे मिलेगी। तो भी मैं निरंतर कर्म करता ही रहता हूँ। क्योंकि यदि मैं प्रमाद और आलस्य छोड़कर कर्म न करूँ तो लोग मेरा अनुकरण करके स्वयं आलसी बन जायेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि संसार का नाश हो जायेगा। प्रजा का पतन होगा। इसलिए जिस तरह अज्ञ लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं वैसे ही विद्वानों को आसक्ति त्यागकर कर्म करना चाहिए। जो लोग अज्ञानी हैं उन्हें भ्रम में डालकर उनके कर्तव्य से उन्हें विचलित नहीं करना चाहिए। यहाँ अपने आपका अनुकरण करने का भगवान निमंत्रण देते हैं।

यह भी कहा कि पूर्व काल में मैंने यही योग विवस्वान को बताया था और विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को बताया था। यह परंपरा चली आ रही थी, पर समय पाकर यह लुप्त हो गई। इसी प्राचीन योग को मैं आज तुम्हें बता रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे मित्र हो और भक्त भी हो। इस लुप्त भागवत धर्म को पुनर्जीवित करने की यह कथा स्पष्ट है।

यहाँ अर्जुन के लिए श्रीकृष्ण ने सखा और भक्त दोनों शब्दों का उपयोग किया है। श्रीकृष्ण ने ईश्वर के अवतार की तरह

अर्जुन को सम्बोधित नहीं किया है। एक मित्र की तरह आदेश दिया है। न अर्जुन ने कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानकर उसके अनुसार सम्बोधन किया है। अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण को मित्र मानकर ही उनके आदेश को सुना है। सारे महाभारत के अध्ययन से पता लगेगा कि पांडव और श्रीकृष्ण का सारा संबंध कौटुंबिक रहा है। बातचीत और व्यवहार सारा मित्रवत् और परिवार का-सा रहा है। जब-जब विपत्ति आई, श्रीकृष्ण पांडवों के पास पहुँच गये, उन्हें व्यावहारिक परामर्श दिया और उनकी सहायता भी की।

श्रीकृष्ण ने पांडवों से वादा कर रखा था कि जब आवश्यक हो बिना संकोच मुझे बुला भेजना! महाभारत के कृष्ण का व्यवहार पांडवों के साथ मित्र का-सा रहा, योगेश्वर की तरह उन्होंने बर्ताव नहीं किया। भागवत और महाभारत के कृष्ण का यह भेद अत्यंत महत्त्व का है जो समझना आवश्यक है।

पर वास्तव में श्रीकृष्ण चाहे भागवत के हों या तो महाभारत के, भक्तिमार्ग के पथिकों के लिए तो वे हर हालत में उपास्य ही रहे हैं। राम और कृष्ण के निरंतर नाम-स्मरण ने मुमुक्षुओं और साधकों को बलवान सहारा दिया है। श्रीकृष्ण ने अपना अनुकरण करने का जन-समाज को निमंत्रण तो दिया, पर जन-मत ने इसको विशेष महत्त्व नहीं दिया। यह अनुकरण उन्हें वित्तशाठ्य लगा, और भक्ति-मार्ग ही उन्हें सरल लगा। इसलिए उनको साक्षात् ईश्वर मानकर ही कृष्ण को उपास्य रखा है।

पर कृष्ण के जीवन की अवहेलना करके नाम-स्मरण करना कुछ अंश में भूल होगी। यह जानना चाहिए कि भक्ति कर्मयोग के बिना निष्फल है और कर्मयोग भक्ति के बिना बेकार है।

अंत समय राम-राम कहकर मरना यही साधकों का ध्येय रहा। गांधीजी ने भी 'हे राम' कहकर प्राण छोड़ा। गांधीजी भक्त थे, पर कर्मयोगी भी थे।

यह एक अद्भुत चमत्कार है कि राम-कृष्ण का कोई इतिहास नहीं पूछता। गोकुल में श्रीकृष्ण ने रास-लीला की या

रास-पंचाध्यायी ने क्या कहा है, इससे भक्तों को कोई लेना-देना नहीं है। न इस संबंध में भक्तों ने कोई शंका उठाई। नरसिंह मेहता कहता है कि कृष्ण के बिना सब-कुछ मिथ्या है। तुकाराम, मीराबाई और अन्य भक्त भी यही कहते हैं। नाम के सहारे लाखों तिर गये और करोड़ों भविष्य में संसार-सागर को पार कर जायेंगे। यह श्रद्धा की एक अनहोनी घटना है। यह एक चमत्कार है, यह सारा श्रद्धा का माहात्म्य है।

भगवान् ने बताया है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है, तब-तब मैं देह धारण करके धर्म की पुनः स्थापना करता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि जब-जब समाज नीचे की ओर लुढ़कता है, तब-तब उस बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारने के लिए कोई एक विशेष शक्ति उद्भव होती है, जो गिरते हुए समाज को फिर से ऊपर उठाती है।

श्रीकृष्ण के बाद बुद्ध, इसके बाद आदि-शंकर और उसके पश्चात् अन्य आचार्य और भक्त पैदा हुए। आधुनिक काल में गांधी के रूप में भी एक दैवी शक्ति का विकास हुआ और गिरती हुई नैतिक अवस्था को उस शक्ति ने फिर से ऊँचा उठाया।

स्तुति - सूची

ओ३म नमो भगवते वासुदेवाय
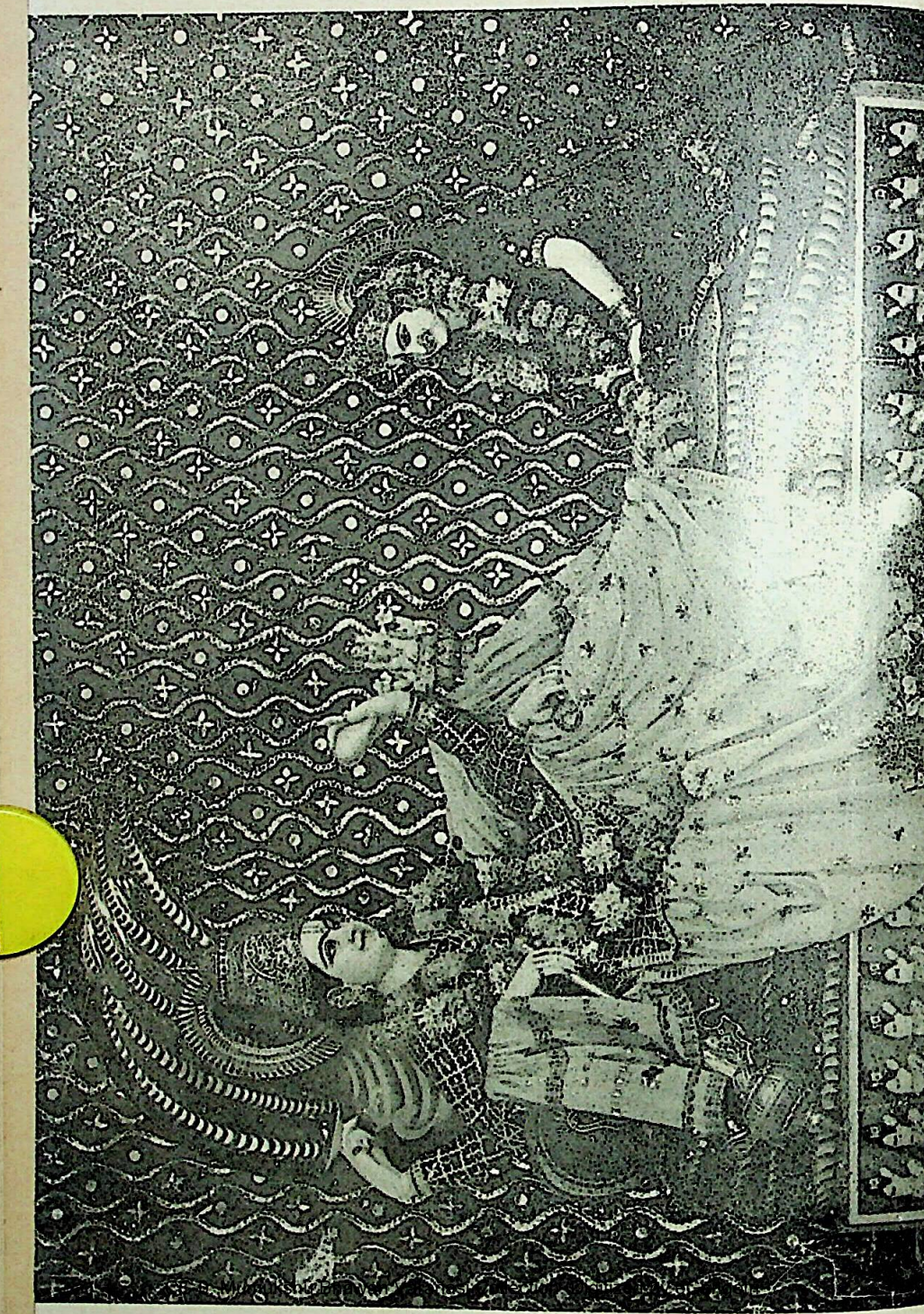
व्यास द्वारा मंगल स्तुति

[इस स्तुति में परमात्मा के अतीन्द्रिय, निराकार मूल स्वरूप का—जो मायाशक्ति से जगत् का सर्जन, पोषण एवं विसर्जन करता है—परं 'सत्य' के रूप में निरूपण है।]

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरत-
श्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये
मुह्यन्ति यत्सूरयः
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो
यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं
सत्यं परं धीमहि॥१॥

जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, क्योंकि वह सभी सत् रूप पदार्थों में अनुगत है और असत् पदार्थों से पृथक् है, जड़ नहीं, चेतन है; परतंत्र नहीं, स्वयंप्रकाश है; जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं किंतु उन्हें अपने संकल्प से ही जिसने उस वेदज्ञान का दान किया है, जिसके सम्बन्ध में बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो

जाते हैं; जैसे तेजोमय सूर्य-रश्मियों में जल का, जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम होता है, वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमयी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-रूपा सृष्टि—मिथ्या होने पर भी—अधिष्ठान-सत्ता से सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयंप्रकाश ज्योति से सर्वदा और सर्वथा माया और मायाकार्य से पूर्णतः मुक्त परमसत्यरूप परमात्मा का हम ध्यान करते हैं ।।१।।

[स्कंध १, अध्याय १]

कुन्ती द्वारा स्तुति

[पाण्डवों को विजयी वनाकर तथा अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा के गर्भ में परीक्षित की रक्षा कर जव श्रीकृष्ण द्वारिका जाने की सोचते हैं, तव भावविह्वल कुन्ती ने भगवान् श्रीकृष्ण की इस प्रकार स्तुति की ।]

नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम् ।
अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥१॥

आप सभी जीवों के वाहर और भीतर एकरस स्थित हैं, फिर भी इंद्रियों और वृत्तियों से देखे नहीं जाते; क्योंकि आप प्रकृति से परे आदिपुरुष परमेश्वर हैं । मैं आपको नमस्कार करती हूँ ॥१॥

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम् ।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥२॥

इन्द्रियों से जो-कुछ जाना जाता है, उसकी तह में आप विद्यमान रहते हैं और अपनी ही माया के परदे से अपने को ढके रहते हैं । मैं अवोध नारी आप अविनाशी पुरुषोत्तम को भला कैसे जान सकती हूँ ? जैसे मूढ़ लोग दूसरा वेश धारण किये हुए नट को प्रत्यक्ष देखकर भी नहीं पहचान सकते, वैसे ही आप दीखते हुए भी नहीं दीखते ॥२॥

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ।।३।।

आप शुद्ध हृदयवाले विचारशील जीवन्मुक्त परमहंसों के हृदय में अपनी प्रेममयी भक्ति का सृजन करने के लिए अवतीर्ण हुए हैं । फिर हम अल्पवुद्ध स्त्रियाँ आपको कैसे पहचान सकती हैं ? ।।३।।

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ।।४।।

आप श्रीकृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्द गोप के लाड़ले कुमार गोविन्द को हमारा बारंबार प्रणाम है ।।४।।

नमः पंकजनाभाय नमः पंकजमालिने ।
नमः पंकजनेत्राय नमस्ते पंकजाङ्‌घ्रये ।।५।।

जिनकी नाभि से ब्रह्मा का जनक कमल प्रकट हुआ है, जो सुन्दर कमलों की माला धारण किये हुए हैं, जिनके नेत्र कमल के समान कोमल हैं, जिनके चरणों में कमल का चिह्न है—ऐसे श्रीकृष्ण ! आपको मेरा वार-वार नमस्कार है ।।५।।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्‌गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ।।६।।

जगद्‌गुरो ! हमारे जीवन में सर्वदा पद-पद पर विपत्तियाँ आती रहें; क्योंकि विपत्तियों में ही निश्चित रूप से आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जाने पर फिर जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं आना पड़ता ।।६।।

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम् ।।७।।

ऊँचे कुल में जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पत्ति के कारण जिसका गर्व बढ़ रहा है, वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता; क्योंकि आप तो उन लोगों को दर्शन देते हैं, जो अकिंचन हैं ।।७।।

नमोऽकिंचनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये ।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ।।८।।

आप निर्धनों के परम धन हैं। माया का प्रपंच आपका स्पर्श भी नहीं कर सकता। आप अपने-आपमें ही विहार करनेवाले, परम शान्तस्वरूप हैं। आप ही कैवल्य (मोक्ष) के अधिपति हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ ॥८॥

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम्।
समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥९॥

मैं आपको अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सबका नियन्ता, कालरूप परमेश्वर समझती हूँ। संसार के समस्त पदार्थ और प्राणी आपस में टकराकर विषमता के कारण परस्पर विरुद्ध हो रहे हैं, परन्तु आप सभी में समान रूप से विचर रहे हैं ॥९॥

न वेद कश्चिद्भगवंश्चिकीर्षितं।
तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम्।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद्।
द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥१०॥

भगवन्! आप जब मनुष्यों की-सी लीला करते हैं, तब आप क्या करना चाहते हैं—यह कोई नहीं जानता। आपका कभी कोई न प्रिय है और न अप्रिय। आपके सम्बन्ध में लोगों की बुद्धि ही विषम हुआ करती है ॥१०॥

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः।
तिर्यङ्नृषिषु यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥११॥

आप विश्व के आत्मा हैं, विश्वरूप हैं। न आप जन्म लेते हैं, और न कर्म ही करते हैं। फिर भी पशु-पक्षी, मनुष्य, ऋषि, जलचर आदि योनियों में आप जन्म लेते हैं और उनके अनुरूप कर्म भी करते हैं। यह आपकी लीला ही तो है ॥११॥

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्।
या ते दशाश्रुकलिलांजनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य।
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ॥१२॥

जव वचपन में आपने दूध की मटकी फोड़कर यशोदा मैया को खिझा दिया था, और उन्होंने आपको बाँधने के लिए हाथ में रस्सी ली थी, तव आपकी आँखों में आँसू छलक आये थे, काजल कपोलों पर वह चला था, नेत्र चंचल हो रहे थे और भयभीत होकर अपना मुख नीचे की ओर झुका लिया था। उस दशा का—लीलाछवि का ध्यान करके मैं मोहित हो जाती हूँ। भला, जिससे भय भी भय मानता है, उसकी यह दशा ! ॥१२॥

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥१३॥

अजन्मा होकर भी आपने जन्म क्यों लिया है, इसका कारण वतलाते हुए कोई-कोई महापुरुष कहते हैं कि जैसे मलयाचल की कीर्ति का विस्तार करने के लिए उसमें चन्दन प्रकट होता है, वैसे ही अपने प्रिय भक्त पुण्यश्लोक राजा यदु की कीर्ति का विस्तार करने के लिए ही आपने उनके वंश में अवतार ग्रहण किया है ॥१३॥

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥१४॥

अन्य लोग यों कहते हैं कि वसुदेव और देवकी ने पूर्वजन्म में (सुतपा और पृश्नि के रूप में) आपसे यही वरदान प्राप्त किया था, इसीलिए अजन्मा होते हुए भी जगत् के कल्याण और दैत्यों के नाश के लिए आप उनके पुत्र वने हैं ॥१४॥

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः॥१५॥

कुछ लोगों का कहना है कि यह पृथ्वी दैत्यों के अत्यन्त भार से समुद्र में डूवते हुए जहाज की तरह डगमगा रही थी, पीड़ित हो रही थी, तव ब्रह्मा की प्रार्थना से उसका भार उतारने के लिए ही आप प्रकट हुए ॥१५॥

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥१६॥

कोई-कोई कहते हैं कि जो लोग इस संसार में अज्ञान, कामना और कर्मों के बंधन में जकड़े हुए पीड़ित हो रहे हैं, उन लोगों के लिए श्रवण और स्मरण करने योग्य लीला करने के विचार से ही आपने अवतार ग्रहण किया है ।।१६।।

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ।।१७।।

भक्तजन बार-बार आपके चरित्र का श्रवण, गान, कीर्तन एवं स्मरण करके आनंदित होते रहते हैं; वे ही शीघ्र आपके उस चरण-कमल का दर्शन कर पाते हैं, जो जन्म-मृत्यु के प्रवाह को सदा के लिए रोक देता है ।।१७।।

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो
जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्
परायणं राजसु योजितांहसाम् ।।१८।।

भक्त-कल्पतरु प्रभो ! क्या अब आप अपने आश्रित और संबंधी हम लोगों को छोड़कर जाना चाहते हैं ? आप जानते हैं कि आपके चरणकमलों के अतिरिक्त हमें और किसी का सहारा नहीं है । पृथ्वी के राजाओं के तो हम यों ही विरोधी हो गये हैं ।।१८।।

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा गंगेवौघमुदन्वति ।।१९।।

श्रीकृष्ण ! जैसे गंगा की अखंड धारा समुद्र में गिरती है, वैसे ही मेरी बुद्धि किसी दूसरी ओर न जाकर आपसे ही निरंतर प्रेम करती रहे ।।१९।।

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥२०॥

श्रीकृष्ण ! अर्जुन के प्यारे सखा यदुवंशशिरोमणे ! पृथ्वी के भाररूप राजवेशधारी दैत्यों को जलाने के लिए आप अग्निस्वरूप हैं। आपकी शक्ति अनंत है। गोविंद ! आपका यह अवतार गौ, ब्राह्मण और देवताओं का दुःख काटने के लिए ही है। योगेश्वर ! चराचर के गुरु भगवन् ! मैं आपको नमस्कार करती हूँ ॥२०॥

[स्कंध १, अध्याय ८]

शुकदेव कृत स्तुति

[अवधूत-शिरोमणि परमहंस शुकदेवजी के अचानक आ जाने से अत्यंत प्रसन्न राजा परीक्षित ने मरणभय-निवारणार्थ तथा अमृतत्त्व प्राप्त करने के हेतु से भगवान् की लीलाओं को विस्तारपूर्वक जानने की जिज्ञासा प्रकट की, तब शुकदेवजी प्रारंभ में मंगलाचरण के रूप में भगवान् की स्तुति करते हैं।]

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया ।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥१॥

पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों में मेरे कोटि-कोटि प्रणाम हैं, जो संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की लीला करने के लिए सत्त्व, रज तथा तमोगुण-रूपी तीन शक्तियों को स्वीकार कर ब्रह्मा, विष्णु और शंकर का रूप धारण करते हैं, जो समस्त चर-अचर प्राणियों के हृदय में अंतर्यामी-रूप से विराजमान हैं, जिनका स्वरूप और उसकी उपलब्धि का मार्ग बुद्धि के विषय नहीं हैं, जो स्वयं अनंत हैं और जिनकी महिमा भी अनंत है ॥१॥

भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसता—
मसम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे
व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥२॥

हम पुनः वार-वार उनके चरणों में नमस्कार करते हैं, जो सत्पुरुषों का दुःख मिटाकर उन्हें अपने प्रेम का दान करते हैं, दुष्टों की सांसारिक वढ़ती रोककर उन्हें मुक्ति देते हैं, तथा जो लोग परमहंस-आश्रम में स्थित हैं, उन्हें भी उनकी वांछित वस्तु प्रदान करते हैं। चर-अचर समस्त प्राणी उन्हीं की मूर्ति हैं, इसलिए किसी से भी उनका पक्षपात नहीं है ॥२॥

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥३॥

जो बड़े ही भक्तवत्सल हैं और हठपूर्वक भक्तिहीन साधन करने-वाले लोग जिनकी छाया भी नहीं छू सकते, जिनके समान किसी का ऐश्वर्य नहीं है, फिर उससे अधिक तो हो ही कैसे सकता है ? ऐसे ऐश्वर्य से युक्त जो निरंतर ब्रह्म-स्वरूप अपने धाम में विहार करते रहते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्ण को मैं वार-बार नमस्कार करता हूँ ॥३॥

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो ममः ॥४॥

जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन जीवों के पाप तत्काल नष्ट कर देता है, उन पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण को मेरा वार-वार नमस्कार है ॥४॥

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
संगं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः।
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमा—
स्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥५॥

विवेकी पुरुष जिनके चरणकमलों की शरण लेकर अपने हृदय से इस लोक और परलोक की आसक्ति निकाल डालते हैं और बिना किसी परिश्रम के ही ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेते हैं, उन मंगलमय कीर्तिवाले भगवान् श्रीकृष्ण को अनेक बार नमस्कार है ॥५॥

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मंत्रविदः सुमंगलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥६॥

बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, यशस्वी, मनस्वी, सदाचारी और मंत्रवेत्ता जब तक अपनी साधनाओं को तथा अपने-आपको उनके चरणों में सर्मपित नहीं कर देते, तब तक उन्हें कल्याण की प्राप्ति नहीं होती। जिनके प्रति आत्म-समर्पण की ऐसी महिमा है, उन कल्याणमयी कीर्ति-वाले भगवान् को बार-बार नमस्कार है ॥६॥

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वर—
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः।
गतव्यलीकैरजशंकरादिभि—
र्वितर्क्यलिंगो भगवान् प्रसीदताम् ॥७॥

वे ही भगवान् ज्ञानियों के आत्मा हैं, भक्तों के स्वामी हैं, कर्म-कांडियों के लिए वेदमूर्ति हैं, धार्मिकों के लिए धर्ममूर्ति हैं और तपस्वियों के लिए तपःस्वरूप हैं। ब्रह्मा, शंकर आदि बड़े-बड़े देवता भी अपने शुद्ध हृदय से उनके स्वरूप का चिंतन करते और आश्चर्य-चकित होकर देखते रहते हैं। वे मुझ पर अपने अनुग्रह के प्रसाद की वर्षा करें ॥७॥

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापति—
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥८॥

जो समस्त सम्पत्तियों की स्वामिनी लक्ष्मी के पति हैं, सर्व यज्ञों के भोक्ता एवं फलदाता हैं, प्रजा के रक्षक हैं, सबके अंतर्यामी और सारे लोकों के पालनकर्त्ता हैं तथा पृथ्वी के स्वामी हैं, जिन्होंने यदुवंश में प्रकट होकर अंधक, वृष्णि तथा यदुवंश के लोगों की रक्षा की है और जो उन लोगों के एकमात्र सहारे रहे हैं—वे भक्तवत्सल, संतजनों के सर्वस्व श्रीकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों ॥८॥

यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।
वदन्ति चैतत् कवयो यथारुचं
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥९॥

विद्वान् लोग जिनके चरणकमलों के चिंतन-रूप समाधि से शुद्ध हुई बुद्धि से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, तथा उनके दर्शन के अनंतर अपनी-अपनी मति और रुचि के अनुसार जिनके स्वरूप का वर्णन करते रहते हैं, वे प्रेम और मुक्ति के लुटानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों ॥९॥

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ॥१०॥

जिन्होंने सृष्टि के समय ब्रह्मा के हृदय में पूर्वकल्प की स्मृति जगाने के लिए ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी को प्रेरित किया और जो अपने अंगों-सहित वेद के रूप में उनके मुख से प्रकट हुईं, ऐसे ज्ञान के मूल-कारण भगवान् मुझ पर कृपा करें, मेरे हृदय में प्रकट हों ॥१०॥

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभु—
र्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः
सोऽलंकृषीष्ट भगवान् वचांसि मे ॥११॥

भगवान् ही पंच भूतों से इन शरीरों का निर्माण कर इनमें जीव-रूप से शयन करते हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और एक मन—इन सोलह कलाओं से युक्त होकर इनके द्वारा सोलह विषयों का भोग करते हैं, वे सर्वभूतमय भगवान् मेरी वाणी को अपने गुणों से अलंकृत कर दें ॥११॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥१२॥

संत जन जिनके मुखकमल से मकरन्द के समान झरती हुई ज्ञान-सुधा का पान करते रहते हैं उन वासुदेवावतार सर्वज्ञ भगवान् व्यास के चरणों में मेरा वार-वार नमस्कार है ॥१२॥

[स्कंध २, अध्याय ४]

ध्रुव द्वारा स्तुति

[भगवान् वासुदेव का दर्शन पाकर बालक ध्रुव को वड़ा कुतूहल हुआ, वे प्रेमवश अधीर हो गये। वे अत्यन्त भक्तिभाव से धैर्यपूर्वक विश्व-विख्यात कीर्तिमान् श्रीहरि की स्तुति करने लगे।]

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥१॥

प्रभो ! आप सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं; आप ही अंतःकरण में प्रवेश कर अपने तेज से सोई हुई वाणी को सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान और त्वचा आदि अन्यान्य इंद्रियों एवं प्राणों को भी चेतनता देते हैं। आप अंतर्यामी भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम्।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥२॥

भगवन् ! आप एक ही हैं, परंतु अपनी अनंत गुणमयी मायाशक्ति से

महत् आदि प्रपंच को रचकर अंतर्यामी-रूप से उसमें प्रवेश कर जाते हैं। फिर इंद्रियादि असत् गुणों में उनके अधिष्ठातृ देवताओं के रूप में स्थित होकर अनेक रूप आप भासते हैं—ठीक वैसे ही जैसे तरह-तरह की लकड़ियों में प्रकट हुई अग्नि अपनी उपाधियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में भासती है ॥२॥

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं
सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं
विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥३॥

नाथ! सृष्टि के आरंभ में ब्रह्मा ने भी आपकी शरण लेकर आपके दिये हुए ज्ञान के प्रभाव से ही इस जगत् को सोकर उठे हुए पुरुष के समान देखा था। दीनबंधो! आपके उन्हीं चरणतल का मुक्त जन भी आश्रय लेते हैं, कोई भी कृतज्ञ व्यक्ति उन्हें कैसे भूल सकता है ॥३॥

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य—
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥४॥

प्रभो! इन शवतुल्य शरीरों के द्वारा भोगा जानेवाला, इंद्रिय और विषयों के संसर्ग से उत्पन्न सुख तो मनुष्यों को नरक में भी मिल सकता है। जो लोग इस विषय-सुख के लिए लालायित रहते हैं, और जन्म-मरण के बंधन से छुड़ा देनेवाले कल्पतरुस्वरूप आपकी उपासना भगवत्-प्राप्ति के सिवा किसी अन्य हेतु से करते हैं, उनकी बुद्धि अवश्य ही आपकी माया के द्वारा ठगी गई है ॥४॥

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म—
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥५॥

नाथ ! आपके चरणकमलों का ध्यान करने और आपके भक्तों के पवित्र चरित्र सुनने से प्राणियों को जो आनंद प्राप्त होता है, वह निजानंदस्वरूप ब्रह्म में भी नहीं मिल सकता। फिर जिन्हें काल की तलवार काटे डालती है, उन स्वर्गीय विमानों से गिरनेवाले पुरुषों को तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है ?॥५॥

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसंगो
भूयादनन्त महतामम्लाशयानाम्।
येनांजसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥६॥

अनंत परमात्मन् ! मुझे तो आप उन विशुद्ध हृदय महात्माओं का संग-साथ दीजिए, जिनका आपमें अखंड भक्तिभाव है; उनके संग में मैं आपके गुणों और लीलाओं की कथा-सुधा पी-पीकर उन्मत्त हो जाऊँगा और सहज ही अनेक प्रकार के दुःखों से भरे इस भयंकर संसार-सागर केउस पार पहुँच जाऊँगा॥६॥

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द—
सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसंगाः॥७॥

कमलनाभ प्रभो ! आपके चरणकमल की सुगंध में लुभाये हुए महानुभावों का जो लोग संग करते हैं, वे अपने इस अत्यंत प्रिय शरीर और इसके सम्बन्धी पुत्र, मित्र, गृह, स्त्री आदि की सुधि भी नहीं करते॥७॥

तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्य—
मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम्।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं
नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः॥८॥

अजन्मा परमेश्वर ! मैं तो पशु, वृक्ष, पर्वत, पक्षी, सरीसृप (सर्पादि रेंगनेवाले जंतु), देवता, दैत्य और मनुष्य आदि से परिपूर्ण

तथा महत् आदि अनेक कारणों से सम्पादित आपके इस सत् और असत् स्थूल विश्व-रूप को ही जानता हूँ; इससे परे आपका जो परम स्वरूप है, जहाँ वाणी की गति नहीं है, उसका मुझे पता नहीं है ।।८।।

कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदंके ।
यन्नाभिसिन्धुरुहकांचनलोकपद्म—
गर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ।।९।।

भगवन् ! कल्प का अंत होने पर योगनिद्रा में स्थित जो परम पुरुष इस सम्पूर्ण विश्व को अपने उदर में लीन करके शेष के साथ उन्हीं की गोद में शयन करते हैं, और जिनके नाभि-समुद्र से प्रकट हुए सर्व-लोकमय सुवर्ण कमल से परम तेजोमय ब्रह्मा उत्पन्न हुए, वे भगवान् आप ही हैं । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।।९।।

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ।।१०।।

प्रभो ! आप अपनी अखंड चिन्मयी दृष्टि से बुद्धि की सभी अवस्थाओं के साक्षी हैं तथा नित्यमुक्त, शुद्ध सत्त्वमय, सर्वज्ञ, परमात्म-स्वरूप, निर्विकार, आदिपुरुष, षडैश्वर्य-सम्पन्न एवं तीनों गुणों के अधीश्वर हैं । आप जीव से सर्वथा भिन्न हैं, तथा संसार की स्थिति के लिए यज्ञाधिष्ठाता विष्णुरूप से विराजमान हैं ।।१०।।

यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य—
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ।।११।।

आपसे ही विद्या, अविद्या आदि विरुद्ध गतियोंवाली अनेक शक्तियाँ धारावाहिक रूप से निरंतर प्रकट होती रहती हैं । आप जगत् के कारण, अखंड, अनादि, आनंदमय, निर्विकार ब्रह्मरूप हैं । मैं

आपकी शरण हूँ ॥११॥

सत्याऽऽशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म—
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥१२॥

भगवन्! आप परमानन्दमूर्ति हैं—जो लोग ऐसा समझकर निष्काम भाव से आपका निरन्तर भजन करते हैं, उनके लिए राज्यादि भोगों की अपेक्षा आपके चरणकमलों की प्राप्ति ही भजन का सच्चा फल है। स्वामिन्! यद्यपि बात ऐसी ही है, तो भी जैसे गौ अपने तुरंत के जन्मे बछड़े को दूध पिलाती और व्याघ्र आदि से बचाती रहती है, उसी प्रकार आप भी भक्तों पर कृपा करने के लिए निरन्तर विकल रहने के कारण हम-जैसे सकाम जीवों की भी कामना पूर्ण करके उनकी संसार-भय से रक्षा करते रहते हैं ॥१२॥

[स्कंध ४, अध्याय ६]

दक्ष द्वारा स्तुति

नमः परायावितथानुभूतये
गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभि-
र्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे ॥१॥

भगवन् ! आपकी अनुभूति और चित्त-शक्ति अमोघ है। जीव और प्रकृति से परे, उनके नियन्ता और उन्हें सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले हैं आप। जिन जीवों ने त्रिगुणमयी सृष्टि को ही वास्तविक सत्य समझ रखा है, वे आपके स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सके हैं; आप तक किसी भी प्रमाण की पहुँच नहीं है—आपकी कोई अवधि, कोई सीमा नहीं है। आप स्वयंप्रकाश और परात्पर हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥१॥

न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः
सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन् ।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टे-
स्तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥२॥

यों तो जीव और ईश्वर एक-दूसरे के सखा हैं और इस शरीर में

इकट्ठे ही निवास करते हैं; परन्तु जीव सर्वशक्तिमान् आपके सख्य-भाव को नहीं जानता—ठीक वैसे ही जैसे रूप, रस, गन्ध आदि विषय अपने-आपको प्रकाशित करनेवाली नेत्र, घ्राण आदि इन्द्रियवृत्तियों को नहीं जानते; कारण कि आप जीव और जगत् के द्रष्टा हैं, दृश्य नहीं। महेश्वर ! मैं आपके श्रीचरणों में नमस्कार करता हूँ ।।२।।

देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा
नात्मानमन्यं च विदुः परं यत्।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो
न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ।।३।।

देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण की वृत्तियाँ, पंचमहाभूत और उनकी तन्मात्राएँ—ये सब जड़ होने के कारण अपने को और अपने से अतिरिक्त को भी नहीं जानते। परन्तु जीव न इन सबको और इनके कारण सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों को भी जानता है। किन्तु वह भी दृश्य या ज्ञेयरूप से आपको नहीं जान सकता। आप ही क्योंकि सबके ज्ञाता हैं और अनन्त हैं, इसलिए प्रभो ! मैं तो केवल आपकी स्तुति करता हूँ ।।३।।

यदोपरामो मनसो नामरूप—
रूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात्।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया
हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ।।४।।

जब समाधि-काल में प्रमाण, विकल्प और विपर्ययरूप विविध ज्ञान और स्मरण-शक्ति का लोप हो जाने से इस नाम-रूपात्मक जगत् का निरूपण करनेवाला मन उपरत हो जाता है, उस समय बिना मन के भी केवल सच्चिदानन्दमयी अपनी स्वरूपस्थिति के द्वारा आप प्रकाशित होते रहते हैं। प्रभो ! आप शुद्ध हैं और शुद्ध हृदय-मन्दिर ही आपका निवास-स्थान है। आपको मेरा नमस्कार है ।।४।।

मनोषिणोऽन्तर्हृदि संनिवेशितं
स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः।
वह्निं यथा दारुणि पांचदश्यं
मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥५॥

जैसे याज्ञिक लोग काष्ठ में छिपे हुए अग्नि को 'सामिधेनी' नाम के पन्द्रह मन्त्रों के द्वारा प्रकट करते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष अपनी सत्ताईस शक्तियों के भीतर गूढ़ भाव से छिपे हुए आपको अपनी शुद्ध बुद्धि के द्वारा हृदय में ही ढूँढ़ निकालते हैं ॥५॥

स वै ममाशेषविशेषमाया–
निषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः
प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ॥६॥

जगत् में जितनी भी भिन्नताएँ दीख पड़ती हैं, वे सब माया की ही हैं। माया को हरा देने पर परम सुख के साक्षात्कारस्वरूप केवल आप ही शेष रहते हैं। परन्तु जब विचार करने लगते हैं, तब आपके स्वरूप में माया की उपलब्धि—निर्वचन—नहीं हो सकता। अर्थात् माया भी आप ही हैं। अतः सारे नाम और सारे रूप आपके ही हैं। प्रभो! आप मुझ पर प्रसन्न हों। मुझे आत्मप्रसाद से पूर्ण कर दीजिए ॥६॥

यद्यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं
धियाक्षभिर्वा मनसा वोत यस्य।
मा भूत् स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्
स वै गुणापायविसर्गलक्षणः ॥७॥

प्रभो! जो-कुछ वाणी से कहा जाता है अथवा जो-कुछ मन, बुद्धि और इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है, वह आपका स्वरूप नहीं है; क्योंकि वह तो गुणरूप है और आप गुणों की उत्पत्ति और प्रलय के अधिष्ठान हैं। आपमें उनकी मात्र प्रतीति है ॥७॥

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै
यद् यो यथा कुरुते कार्यते च।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं
तद् ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ।।८।।

भगवन् ! आपमें ही यह सारा जगत् स्थित है, आपसे ही निकला है और आपने—और किसी के सहारे नहीं—अपने-आपसे ही इसका निर्माण किया है। यह आपका ही है और आपके लिए ही है। इसके रूप में बननेवाले भी आप हैं और बनानेवाले भी आप ही हैं। बनने-बनाने की विधि भी आप ही हैं। आप ही सबसे काम लेनेवाले भी हैं। जब कार्य और कारण का भेद नहीं था, तब भी आप स्वयंसिद्ध स्वरूप से स्थित थे। इसी से आप सबके कारण भी हैं। सच्ची बात तो यह है कि आप जीव-जगत् के भेद और स्वगत-भेद से सर्वथा रहित एक हैं, अद्वितीय हैं। आप स्वयं ब्रह्म हैं। आप मुझ पर प्रसन्न हों ।।८।।

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ।।९।।

प्रभो ! आपकी ही शक्तियाँ वादी-प्रतिवादियों के विवाद और संवाद (ऐकमत्य) का विषय होती हैं और उन्हें बार-बार मोह में डाल दिया करती हैं। आप अनन्त, अप्राकृत कल्याण-गुणगणों से युक्त एवं स्वयं अनन्त हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ।।९।।

अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयो–
रेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः ।
अवेक्षितं किंचन योगसांख्ययोः
समं परं ह्यनुकूलं बृहत्तत् ।।१०।।

भगवन् ! उपासक लोग कहते हैं कि हमारे प्रभु हस्त-पादादि से युक्त साकार-विग्रह हैं, और सांख्यवादी कहते हैं कि भगवान् हस्त-पादादि विग्रह से रहित—निराकार हैं। यद्यपि इस प्रकार वे एक ही

वस्तु के दो परस्पर-विरोधी धर्मों का वर्णन करते हैं, परन्तु फिर भी उसमें विरोध नहीं है; क्योंकि दोनों एक ही परम वस्तु में स्थित हैं। विना आधार के हाथ-पैर आदि का होना सम्भव नहीं, और निषेध की भी कोई-न-कोई सीमा होनी ही चाहिए। आप वही आधार और निषेध की सीमा हैं। इसलिए आप साकार निराकार दोनों से ही अविरुद्ध परब्रह्म हैं ।।१०।।

योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूल—
मनामरूपो भगवाननन्तः।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि–
र्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ।।११।।

प्रभो ! आप अनन्त हैं। आपका न तो कोई प्राकृत नाम है और न कोई प्राकृत रूप; फिर भी जो आपके चरणकमलों का भजन करते हैं, उन पर अनुग्रह करने के लिए आप अनेक रूपों में प्रकट होकर अनेक लीलाएँ करते हैं, और उन-उन रूपों एवं लीलाओं के अनुसार अनेक नाम धारण कर लेते हैं। परमात्मन् ! आप मुझ पर कृपा-प्रसाद कीजिए ।।११।।

यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां
यथाशयं देहगतो विभाति।
यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं
स ईश्वरो मे कुरुतान्मनोरथम् ।।१२।।

लोगों की उपासनाएँ प्रायः साधारण कोटि की होती है। अतः आप सबके हृदय में रहकर उनकी भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में प्रतीत होते रहते हैं—ठीक वैसे ही जैसे हवा गन्ध का आश्रय लेकर सुगन्धित प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में सुगन्धित नहीं होती। ऐसे सबकी भावनाओं का अनुसरण करनेवाले प्रभु मेरी अभिलाषा पूर्ण करें ।।१२।।

[स्कंध ६, अध्याय ४]

प्रह्लाद द्वारा स्तुति

[परमभक्त प्रह्लाद के क्रूर पिता हिरण्यकशिपु को नृसिंह-रूपधारी भगवान् ने विदीर्ण कर डाला, फिर भी उनका उग्र कोप शान्त नहीं हो रहा था। देवताओं ने शान्त करने के लिए लक्ष्मी की प्रार्थना की, किन्तु वह भी भगवान् के पास जाने से डर रही थीं। पश्चात् ब्रह्माजी ने भक्तवर प्रह्लाद को भेजा जो निःशंक होकर गये और भाव-भक्तिपूर्ण स्तुति करने लगे।]

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः
सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः
किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥१॥

ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि-मुनि और सिद्ध पुरुषों की बुद्धि निरन्तर सत्त्वगुण में स्थित रहती है। फिर भी वे अपनी धाराप्रवाह स्तुति और अपने विविध गुणों से आपको अब तक भी सन्तुष्ट नहीं कर सके। फिर मैं तो घोर असुर जाति में उत्पन्न हुआ हूँ। क्या आप मुझसे सन्तुष्ट हो सकते हैं?॥१॥

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय ॥२॥

मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, वल, पौरुष, बुद्धि और योग—ये सभी गुण परमपुरुष भगवान् को सन्तुष्ट करने में असमर्थ हैं; परन्तु भक्ति से तो भगवान् गजेन्द्र पर भी सन्तुष्ट हो गये थे ॥२॥

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ—
पादारविंदविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ—
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥३॥

मेरी समझ से वारह गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभ के चरण-कमलों से विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान् के चरणों में समर्पित कर रखे हैं; क्योंकि वह तो अपने कुल तक को पवित्र कर देता है और बड़प्पन का अभिमान रखनेवाला ब्राह्मण अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता ॥३॥

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥४॥

सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने स्वरूप के साक्षात्कार से ही परिपूर्ण हैं। उन्हें अपने लिए क्षुद्र लोगों से पूजा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं। वे करुणावश ही भोले भक्तों के हितार्थ उनकी की हुई पूजा स्वीकार कर लेते हैं। जैसे अपने मुख का सौंदर्य दर्पण में दीखनेवाले प्रतिबिम्ब को भी सुन्दर वना देता है, वैसे ही भक्त भगवान् के प्रति जो-जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसे ही प्राप्त होता है ॥४॥

तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य
सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः
पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ।।५।।

इसलिए सर्वथा अयोग्य और अनधिकारी होने पर भी मैं बिना किसी शंका के अपनी बुद्धि के अनुसार सब प्रकार से भगवान् की महिमा का वर्णन कर रहा हूँ। इस महिमा के गान का ही प्रभाव है कि अविद्यावश संसार-चक्र में पड़ा हुआ जीव तत्काल पवित्र हो जाता है ।।५।।

सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो
ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य
विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ।।६।।

भगवन् ! आप सत्त्वगुण के आश्रय हैं। ये ब्रह्मा आदि सभी देवता आपके आज्ञाकारी भक्त हैं। ये हम दैत्यों की तरह आपसे द्वेष नहीं करते। प्रभो ! आप सुन्दर-सुन्दर अवतार लेकर इस जगत् के कल्याण एवं अभ्युदय तथा उसे आतमानन्द प्राप्त कराने के लिए अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं ।।६।।

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य-
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशंकुकर्णा—
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ।।७।।

परमात्मन् ! आपका मुख बड़ा भयावना है। आपकी जीभ लप-लपा रही है। आँखें सूर्य के समान हैं। भौंहें चढ़ी हुई हैं। बड़ी पैनी दाढ़ें हैं। आँतों की माला, खून से लथपथ गर्दन के बाल, बर्छे की तरह सीधे खड़े कान और दिग्गजों को भी भयभीत कर देनेवाला सिंहनाद एवं शत्रुओं को फाड़ डालनेवाले आपके इन नखों को देखकर मैं तनिक भी भयभीत नहीं हुआ हूँ ।।७।।

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र—
संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः।
बद्ध स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥८॥

दीनबन्धो ! मैं भयभीत हूँ तो केवल इस असह्य और उग्र संसार-चक्र में पिसने से। मैं अपने कर्मपाशों से बँधकर इन भयंकर जंतुओं के वीच में डाल दिया गया हूँ। मेरे स्वामी ! आप प्रसन्न होकर मुझे कव अपने उन चरणकमलों में वुलायेंगे, जो समस्त जीवों के लिए एकमात्र शरण और मोक्षस्वरूप हैं ?॥८॥

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म—
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन्भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥९॥

अनन्त ! मैं जिन-जिन योनियों में गया, उन सभी योनियों में प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग से होनेवाले शोक की आग में झुलसता रहा। उन दुःखों को मिटाने की जो दवा है, वह भी दुःखरूप ही है। मैं न जाने कव से अतिरिक्त वस्तुओं को आत्मा समझकर इधर-उधर भटक रहा हूँ। अव आप ऐसा साधन वताइये जिससे कि आपकी सेवा-भक्ति प्राप्त कर सकूँ ॥९॥

सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया
लीलाकथास्तव नृसिंह विरिंचगीताः।
अंजस्तितर्म्यनुगृणन्गुणविप्रमुक्तो
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससंगः ॥१०॥

प्रभो ! आप हमारे प्रिय हैं। अहैतुक हितैषी सुहृद् हैं। आप ही वास्तव में सवके परमाराध्य हैं। मैं ब्रह्मा के द्वारा गाई हुई आपकी लीला-कथाओं का गान करता हुआ बड़ी सुगमता से रागादि प्राकृत गुणों से मुक्त होकर इस संसार की कठिनाइयों को पार कर जाऊँगा; क्योंकि आपके चरणयुगलों में रहनेवाले भक्त परमहंस महात्माओं का

संग तो मुझे मिलता ही रहेगा ।।१०।।

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहांजसेष्ट—
स्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ।।११।।

भगवन् नृसिंह ! इस लोक में दुखी जीवों का दुःख मिटाने के लिए जो उपाय माना जाता है, वह आपके उपेक्षा करने पर एक क्षण के लिए ही होता है । यहाँ तक कि माँ-बाप बालक की रक्षा नहीं कर सकते, औषधि रोग दूर नहीं कर सकती और समुद्र में डूबते हुए को नौका नहीं बचा सकती ।।११।।

यस्मिन्यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद्
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा ।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः
संचोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ।।१२।।

सत्त्वादि गुणों के कारण भिन्न-भिन्न स्वभाव के जितने भी ब्रह्मादि श्रेष्ठ और कालादि कनिष्ठ कर्त्ता हैं, उनको प्रेरित करनेवाले आप ही हैं । वे आपकी प्रेरणा से जिस निमित्त से, जिन मिट्टी आदि उपकरणों से, जिस समय, जिन साधनों से, जिस अदृष्ट आदि की सहायता से, जिस प्रयोजन से, जिस विधि से जो कुछ उत्पन्न करते या रूपान्तरित करते हैं, वे सब और वह सब आपका ही स्वरूप है ।।१२।।

माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः
कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः ।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं
संसारचक्रमज कोऽतितरेत् त्वदन्यः ।।१३।।

पुरुष की अनुमति से काल के द्वारा गुणों में क्षोभ होने पर माया मनःप्रधान लिंग-शरीर का निर्माण करती है । यह लिंग-शरीर बलवान् कर्ममय एवं अनेक नामरूपों में आसक्त—छन्दोमय है । यही अविद्या द्वारा कल्पित मन, दस इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्राएँ—इन सोलह

विकाररूप अरों से युक्त संसार-चक्र है। जन्मरहित प्रभो ! आपसे भिन्न रहकर ऐसा कौन है, जो इस मनरूप संसार-चक्र को पार कर जाये ?॥१३॥

स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना
कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे
निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥१४॥

सर्वशक्तिमान् प्रभो ! माया इस सोलह अरोंवाले संसार-चक्र में डालकर ईख के समान मुझे पेर रही है। आप अपनी चैतन्य शक्ति से बुद्धि के समस्त गुणों को सर्वदा पराजित रखते हैं, और कालरूप से सम्पूर्ण साध्य और साधनों को अपने अधीन रखते हैं। मैं आपकी शरण में आया हूँ, आप मुझे इससे बचाकर अपनी सन्निधि में खींच लीजिए ॥१४॥

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ
आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमा विरिंचात्।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण
कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥१५॥

मैं ब्रह्मलोक तक की आयु, लक्ष्मी, ऐश्वर्य और वे इन्द्रिय-भोग, जिनकी संसार के प्राणी कामना करते हैं, नहीं चाहता; क्योंकि मैं जानता हूँ कि अत्यन्त शक्तिशाली काल का रूप धारण करके आपने उन्हें ग्रस रखा है। इसलिए मुझे आप अपने दासों की सन्निधि में ले चलिए ॥१५॥

कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन्दुरापैः ॥१६॥

विषय-भोग की बातें सुनने में ही अच्छी लगती हैं, वास्तव में मृगतृष्णा के जल के समान वे नितान्त असत्य हैं और यह शरीर भी,

जिससे वे भोग भोगे जाते हैं, अगणित रोगों का उद्गम-स्थान है। कहाँ वे मिथ्या विषय-भोग और कहाँ यह रोगयुक्त शरीर ! इन दोनों की क्षणभंगुरता और असारता जानकर भी मनुष्य इनसे विरक्त नहीं होता। यह कठिनाई से प्राप्त होनेवाले भोग के नन्हे-नन्हे मधु-विंदुओं से अपनी कामना की आग बुझाने की चेष्टा करता है ॥१६॥

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥१७॥

प्रभो ! इस तमोगुणी असुरवंश में रजोगुण से उत्पन्न हुआ कहाँ मैं, और कहाँ आपकी अनन्त कृपा ! धन्य है ! आपने अपना परम प्रसादस्वरूप सकल संतापहारी वह करकमल मेरे सिर पर रखा है, जिसे आपने ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मी के सिर पर भी कभी नहीं रखा ॥१७॥

नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्या—
ज्जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥१८॥

अन्य संसारी जीवों के समान आपमें छोटे-वड़े का भेदभाव नहीं है; क्योंकि आप सबके आत्मा और अकारण प्रेमी हैं। फिर भी कल्पवृक्ष के समान आपका कृपा-प्रसाद भी सेवन-भजन से ही प्राप्त होता है ॥१८॥

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन्प्रसंगात्।
कृत्वाऽऽत्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥१९॥

भगवन् ! यह संसार एक ऐसा अँधेरा कुँआ है, जिसमें कालरूपी सर्प डसने के लिए सदा तैयार रहता है। विषय-भोगों की इच्छावाले

व्यक्ति उसी में गिरे हुए हैं। मैं भी संगवश उसके पीछे उसी में गिरने जा रहा था; परन्तु भगवन्! देवर्षि नारद ने मुझे अपनाकर बचा लिया। तब भला, मैं आपके भक्तजनों की सेवा कैसे छोड़ सकता हूँ?॥१९॥

एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत् त्व—
माद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं
नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः॥२०॥

भगवन्! यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र आप ही हैं; इसके आदि में आप ही कारणरूप से थे, अन्त में आप ही अवधि के रूप में रहेंगे और बीच में इसकी प्रतीति के रूप में भी केवल आप ही हैं। आप अपनी माया से गुणों के परिणामस्वरूप इस जगत् की सृष्टि करके, इसमें पहले से विद्यमान रहने पर भी, प्रवेश की लीला रचते हैं और उन गुणों से युक्त होकर अनेक प्रतीत हो रहे हैं॥२०॥

त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो
माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था।
यद् यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च
तद् वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः॥२१॥

भगवन्! यह जो-कुछ कार्य-कारण के रूप में प्रतीत हो रहा है, वह सब आप ही हैं और इससे भिन्न भी आप ही हैं। अपने-पराये का भेदभाव तो अर्थहीन शब्दों की माया है, क्योंकि जिससे जिसका जन्म, स्थिति, लय और प्रकाश होता है, वह उसका स्वरूप ही होता है—जैसे बीज और वृक्ष कारण और कार्य की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं, तो भी गंध-तन्मात्र की दृष्टि से दोनों एक ही हैं॥२१॥

न्यस्येदमात्मनि जगद् विलयाम्बुमध्ये
शेषेऽऽत्मना निजसुखानुभवो निरीहः।
योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्र—
स्तुर्येस्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे॥२२॥

भगवन् ! आप इस सम्पूर्ण विश्व को स्वयं अपने में समेटकर आत्मसुख का अनुभव करते हुए निष्क्रिय होकर प्रलयकालीन जल में शयन करते हैं। उस समय अपने स्वयंसिद्ध योग के द्वारा वाह्य दृष्टि को वन्द कर आप अपने स्वरूप के प्रकाश में निद्रा को विलीन कर लेते हैं और तुरीय व्रह्मपद में स्थित रहते हैं। उस समय आप न तो तमोगुण से युक्त होते और न विषयों को ही स्वीकार करते हैं ॥२२॥

तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या
संचोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।
अम्भस्यनन्तशयनाद् विरमत्समाधे—
र्नाभेरभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥२३॥

आप अपनी कालशक्ति से प्रकृति के गुणों को प्रेरित करते हैं, इसलिए यह ब्रह्माण्ड आपका ही शरीर है। पहले यह आपमें ही लीन था। जव प्रलयकालीन जल के भीतर शेषशय्या पर शयन करनेवाले आपने योगनिद्रा की समाधि त्याग दी, तब वट के बीज से विशाल वृक्ष के समान आपकी नाभि से ब्रह्माण्ड-कमल उत्पन्न हुआ ॥२३॥

तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमान—
स्त्वां बीजमात्मनि ततं स्वबहिर्विचिन्त्य ।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो
जातेऽङ्कुरे कथमु होपलभेत बीजम् ॥२४॥

उस पर सूक्ष्मदर्शी ब्रह्मा प्रकट हुए। जव उन्हें कमल के सिवा और कुछ भी दिखाई न पड़ा, तव अपने में बीजरूप से व्याप्त आपको वे न जान सके, और आपको अपने से बाहर समझकर जल के भीतर घुसकर सौ वर्ष तक ढूँढ़ते रहे। परन्तु वहाँ उन्हें कुछ नहीं मिला। यह ठीक ही है, क्योंकि अंकुर उग आने पर उसमें व्याप्त बीज को कोई वाहर अलग कैसे देख सकता है ? ॥२४॥

स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं
कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं
भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥२५॥

ब्रह्मा को तव बड़ा आश्चर्य हुआ, जब वे हारकर कमल पर बैठ गये। बहुत समय बीतने पर तीव्र तपस्या करने से जब उनका हृदय शुद्ध हो गया, तब उन्हें भूत, इंद्रिय और अंतःकरण-रूप अपने शरीर में ही ओतप्रोत रूप से स्थित आपके सूक्ष्म रूप का साक्षात्कार हुआ—ठीक वैसे ही, जैसे पृथ्वी में व्याप्त उसकी अति सूक्ष्म तन्मात्रा गन्ध का होता है ॥२५॥

एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरः करोरु—
नासास्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं
दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिंचः ॥२६॥

विराट् पुरुष सहस्रों मुख, चरण, सिर, हाथ, जंघा, नासिका, मुख, कान, नेत्र, आभूषण और आयुधों से सम्पन्न था। चौदहों लोक उसके विभिन्न अंगों के रूप में शोभायमान थे। वह भगवान् की एक लीलामयी मूर्ति थी। उसे देखकर ब्रह्मा को बड़ा आनन्द हुआ ॥२६॥

तस्मै भवान्हयशिरस्तनुवं च बिभ्रद्
वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ।
हत्वाऽऽनयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च
सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥२७॥

रजोगुण और तमोगुण-रूप मधु और कैटभ नाम के दो बड़े बलवान् दैत्य थे। जब वे वेदों को चुराकर ले गये, तब आपने हयग्रीव-अवतार धारण किया और उन दोनों को मारकर सत्त्वगुण-रूप श्रुतियाँ ब्रह्मा को लौटा दीं। वह सत्त्वगुण ही आपका अत्यन्त प्रिय शरीर है—महात्मा लोग इस प्रकार वर्णन करते हैं ॥२७॥

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै—
लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् ।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं
छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम् ॥२८॥

पुरुषोत्तम ! इस प्रकार आप मनुष्य, पशु-पक्षी, ऋषि, देवता और मत्स्य आदि अवतार लेकर लोकों का पालन तथा विश्व के द्रोहियों का संहार करते हैं। इन अवतारों के द्वारा आप प्रत्येक युग में उसके धर्मों की रक्षा करते हैं। कलियुग में आप छिपकर गुप्त रूप से ही रहते हैं इसीलिए आपका एक नाम 'त्रियुग' भी है ॥२८॥

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं
तस्मिन्कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥२९॥

वैकुण्ठनाथ ! मेरे मन की बड़ी दुर्दशा है। वह पाप-वासनाओं से तो कलुषित है ही, स्वयं भी अत्यन्त दुष्ट है। वह प्रायः कामनाओं के कारण आतुर रहता है और हर्ष-शोक, भय एवं लोक-परलोक, धन, पत्नी, पुत्र आदि की चिन्ताओं से व्याकुल रहता है। इसे आपकी लीला-कथाओं में तो रस ही नहीं मिलता। इसके मारे मैं दीन हो रहा हूँ। ऐसे मन से मैं आपके स्वरूप का चिंतन कैसे करूँ ?॥२९॥

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति:—
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥३०॥

अच्युत ! यह कभी न अघानेवाली जीभ मुझे स्वादिष्ट रसों की ओर खींचती रहती है। जननेन्द्रिय सुन्दरी स्त्री की ओर, त्वचा सुकोमल स्पर्श की ओर, पेट स्वादिष्टं भोजन की ओर, कान मधुर संगीत की ओर, नासिका भीनी-भीनी सुगन्ध की ओर, और ये चपल नेत्र सौन्दर्य की ओर मुझे खींचते रहते हैं। इनके सिवा कर्मेन्द्रियाँ भी

अपने-अपने विषयों की ओर ले जाने को जोर लगाती रहती हैं। मेरी तो ऐसी दशा हो रही है, जैसे किसी पुरुष की बहुत-सी पत्नियाँ उसे अपने-अपने शयनगृहों में ले जाने के लिए चारों ओर से घसीट रही हों ।।३०।।

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्या—
मन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।
पश्यंजनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं
हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ।।३१।।

इस प्रकार यह जीव अपने कर्मों के बंधन में पड़कर संसार-रूपी वैतरणी नदी में गिरा हुआ है। जन्म से मृत्यु, मृत्यु से जन्म और दोनों के द्वारा कर्मभोग करते-करते यह भयभीत हो गया है। यह अपना है, यह पराया है—इस प्रकार के भेदभाव से युक्त होकर किसी से मित्रता करता है, तो किसी से शत्रुता। आप इस मूढ़ जीव-जाति की यह दुर्दशा देखकर करुणा से द्रवित हो जाइये। इस भव-नदी से सर्वदा पार रहने-वाले भगवन्! इन प्राणियों को भी अब पार लगा दीजिये ।।३१।।

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ।।३२।।

जगद्गुरो! आप इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करनेवाले हैं। ऐसी अवस्था में इन जीवों को भव-नदी के पार उतार देने में आपको क्या प्रयास है? दीनजनों के परमहितैषी प्रभो! भूले-भटके मूढ़ ही महान् पुरुषों के विशेष अनुग्रह-पात्र होते हैं। हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम आपके प्रियजनों की सेवा में लगे रहते हैं। इसलिए पार जाने की हमें कभी चिन्ता ही नहीं होती ।।३२।।

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या—
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ—
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ।।३३।।

परमात्मन् ! इस भव-वैतरणी से पार उतरना दूसरे लोगों के लिए अवश्य ही कठिन है, परन्तु मुझे तो इससे तनिक भी भय नहीं है, क्योंकि मेरा चित्त वैतरणी में नहीं, किन्तु आपकी उन लीलाओं के गान में मग्न रहता है, जो स्वर्गीय अमृत को भी तिरस्कृत करनेवाली—परमामृत-स्वरूप हैं। मैं उन मूढ़ प्राणियों के लिए शोक कर रहा हूँ, जो आपके गुणगान से विमुख रहकर इन्द्रियों के विषयों का मायामय झूठा सुख प्राप्त करने के लिए अपने सिर पर सारे संसार का भार ढोते रहते हैं ॥३३॥

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यंत्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥३४॥

मेरे स्वामी ! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तो प्रायः अपनी मुक्ति के लिए निर्जन वन में जाकर मौनव्रत धारण कर लेते हैं। वे दूसरों की भलाई के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते। परन्तु मेरी दशा तो दूसरी ही हो रही है। मैं इन भूले हुए असहाय दीन-हीनों को छोड़कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता और इन भटकते हुए प्राणियों के लिए आपके सिवा और कोई सहारा भी दिखाई नहीं पड़ता ॥३४॥

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥३५॥

घर में फँसे हुए लोगों को मैथुन आदि का जो सुख मिलता है, वह अत्यन्त तुच्छ और दुःखस्वरूप ही है—जैसे कोई दोनों हाथों से खुजला रहा हो तो उस खुजली में पहले उसे कुछ थोड़ा-सा सुख मालूम पड़ता है, परन्तु पीछे दुःख-ही-दुःख होता है। ये भूले हुए अज्ञानी मनुष्य बहुत दुःख भोगने पर भी इन विषयों से अघाते नहीं। इसके विपरीत धीर पुरुष जैसे खुजलाहट को सह लेते हैं, वैसे ही कामादि

वेगों को भी सह लेते हैं। सहने से ही उनका नाश होता है ।।३५।।

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म—
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
वार्ताभवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ।।३६।।

पुरुषोत्तम ! मोक्ष के ये दस साधन प्रसिद्ध हैं—मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-श्रवण, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्म-पालन, युक्तियों से शास्त्रों की व्याख्या, एकान्त-सेवन, जप और समाधि। परन्तु जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, उनके लिए ये सब जीविका के साधन—व्यापार-मात्र रह जाते हैं और दम्भियों के लिए तो जब तक उनकी पोल नहीं खुलती तभी तक ये जीवन-निर्वाह के साधन होते हैं, और भंडाफोड़ हो जाने पर वह भी नहीं ।।३६।।

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे
बीजांकुराविव न चान्यदरूपकस्य।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ।।३७।।

वेदों ने बीज और अंकुर के समान आपके दो रूप बताये हैं—कार्य और कारण। वास्तव में आप प्राकृत रूप से रहित हैं। परन्तु इन कार्यों और कारणरूपों को छोड़कर आपके ज्ञान का कोई और साधन भी नहीं है। काष्ठ-मन्थन के द्वारा जिस प्रकार अग्नि प्रकट की जाती है, उसी प्रकार योगीजन भक्तियोग की साधना से आपको कार्य और कारण दोनों में ही ढूंढ़ निकालते हैं, क्योंकि वास्तव में ये दोनों आपसे पृथक् नहीं हैं, ये आपके स्वरूप ही हैं ।।३७।।

त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः
प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ।।३८।।

अनन्त प्रभो ! वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, पंच तन्मात्राएँ,

प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहंकार, संपूर्ण जगत् तथा सगुण और निर्गुण-सब-कुछ केवल आप ही हैं। और तो क्या, मन और वाणी के द्वारा जो-कुछ निरूपण किया गया है, वह सब आपसे पृथक् नहीं है ।।३८।।

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये
सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा—
मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ।।३९।।

समग्र कीर्ति के आश्रय भगवन्! ये सत्त्वादि गुण और इन गुणों के परिणाम महत्तत्त्वादि, देवता, मनुष्य एवं मन आदि कोई भी आपका स्वरूप जानने में समर्थ नहीं है, क्योंकि ये सब आदि और अन्त वाले हैं और आप अनादि एवं अनन्त हैं। ऐसा विचार करके ज्ञानी-जन शब्दों की माया से उपरत हो जाते हैं ।।३९।।

तत् तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः
कर्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षडंगया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ।।४०।।

परम पूज्य! आपकी सेवा के छह अंग हैं—नमस्कार, स्तुति, समस्त कर्मों का समर्पण, सेवा-पूजा, चरणकमलों का चिन्तन और लीला-कथा का श्रवण। इस षडंग-सेवा के बिना आपके चरण-कमलों की भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? और भक्ति के बिना आपकी प्राप्ति कैसे होगी? प्रभो! आप अपने परम प्रिय भक्तजनों के, परमहंसों के ही सर्वस्व हैं ।।४०।।

[स्कंध ७, अध्याय ९]

गजेन्द्र कृत स्तुति

[कथा है कि क्षीरसागर के मध्य में मरकतमणियों से सुशोभित 'त्रिकूट' पर्वत था। उस पर वरुणदेव ने देवांगनाओं के विहार के लिए एक सुन्दर उद्यान वनवाया था। उद्यान में कमनीय कमल-सरोवर था। उसमें ग्रीष्म-संतप्त गजराज अपनी प्रियाओं के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था। अचानक उसे एक महाग्राह ने पकड़ लिया और वह जल में उसे खींचने लगा। गजराज और उसकी प्रिया हथिनियों का रक्षा-प्रयत्न जव सर्वथा विफल हो गया तो गजेन्द्र ने असहाय भाव से भगवान् की स्तुति की।]

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ।।१।।

जो जगत् के मूल कारण हैं और सवके हृदय में पुरुप के रूप में विराजमान हैं, एवं समस्त प्राणियां के एकमात्र स्वामी हैं, जिनके कारण इस संसार में चेतनता का विस्तार होता है, उन भगवान् को मैं नमन करता हूँ, प्रेम-भक्ति से उनका ध्यान करता हूँ ।।१।।

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ।।२।।

यह संसार उन्हीं में स्थित है, उन्हीं की सत्ता से प्रतीत हो रहा है, वे ही इसमें व्याप्त हैं और स्वयं वे ही इसके रूप में प्रकट हो रहे हैं। यह सब होने पर भी वे इस संसार और इसके कारण—प्रकृति से सर्वथा परे हैं। उन स्वयंप्रकाश स्वयंसिद्ध सत्तात्मक भगवान् की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।।२।।

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं
क्वचिद् विभातं क्व च तत् तिरोहितम्।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते
स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ।।३।।

यह विश्व-प्रपंच उन्हीं की माया से उनमें स्थित है। यह कभी प्रतीत होता है, तो कभी नहीं। परन्तु उनकी दृष्टि ज्यों-की-त्यों—एक-सी रहती है। वे इसके साक्षी हैं और उन दोनों को ही देखते रहते हैं। वे सबके मूल हैं और अपने भी मूल वही हैं। कोई दूसरा उनका कारण नहीं है। वे ही समस्त कार्य और कारणों से अतीत प्रभु मेरी रक्षा करें ।।३।।

कालेन पंचत्वमितेषु कृत्स्नशो
लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु।
तमस्तदाऽऽसीद् गहनं गभीरं
यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ।।४।।

प्रलय के समय लोक, लोकपाल और इन सबके कारण सम्पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। उस समय केवल अत्यन्त घना और गहरा अंधकार-ही-अंधकार रहता है। परन्तु अनन्त परमात्मा उससे सर्वथा परे विराजमान रहते हैं। वे ही प्रभु मेरी रक्षा करें ।।४।।

न यस्य देवा ऋषयः पदं विदु—
र्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम्।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो
दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ।।५।।

उनकी लीलाओं का रहस्य जानना बहुत कठिन है। वे नट की

भाँति अनेक वेश धारण करते हैं। उनके वास्तविक स्वरूप को न तो देवता जानते हैं और न ऋषि ही; फिर अन्य ऐसा कौन प्राणी है जो वहाँ तक जा सके और उसका वर्णन कर सके ?॥५॥

दिदृक्षवो यस्य पदं सुमंगलं
विमुक्तसंगा मुनयः सुसाधवः।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः॥६॥

जिनके परम मंगलमय स्वरूप का दर्शन करने के लिए महात्मा-गण संसार की समस्त आसक्तियों का परित्याग कर देते हैं और वन में जाकर अखण्ड भाव से ब्रह्मचर्य आदि अलौकिक व्रतों का पालन करते हैं, तथा अपनी आत्मा को सबके हृदय में विराजमान देखकर स्वाभाविक ही सबका कल्याण करते हैं—वे ही मुनियों के सर्वस्व भगवान् मेरे सहायक हैं, वे ही मेरी गति हैं॥६॥

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा
न नामरूपे गुणदोष एव वा।
तथापि लोकाप्ययसंभवाय यः
स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति॥७॥

न उनके जन्म-कर्म हैं और न नाम-रूप। फिर उनके सम्बन्ध में गुण और दोष की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? फिर भी विश्व की सृष्टि और संहार करने के लिए समय-समय पर उन्हें अपनी माया के द्वारा स्वीकार करते हैं॥७॥

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये।
अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे॥८॥

उन्हीं अनन्त शक्तिमान् सर्वैश्वर्यमय परब्रह्म परमात्मा को मैं नमन करता हूँ। वे अरूप होने पर भी बहुरूप हैं। उनके कर्म अत्यन्त आश्चर्यमय हैं। मैं उनके चरणों में नमन करता हूँ॥८॥

नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने
नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि॥९॥

स्वयंप्रकाश, सबके साक्षी परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। जो मन, वाणी और चित्त से अत्यन्त दूर हैं—उन परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ॥९॥

सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता
नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥१०॥

विवेकी पुरुष कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पण के द्वारा अपना अन्तःकरण शुद्ध करके जिन्हें प्राप्त करते हैं तथा जो स्वयं तो नित्य-मुक्त, परमानन्द एवं ज्ञानस्वरूप हैं ही, दूसरों को कैवल्य मुक्ति देने की सामर्थ्य भी केवल उन्हीं में है—उन प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१०॥

नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे।
निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥१८॥

जो सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों का धर्म स्वीकार करके क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़ अवस्था भी धारण करते हैं, उन भेद-रहित समभाव से स्थित एवं ज्ञानघन प्रभु को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥११॥

क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे।
पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः ॥१२॥

आप सबके स्वामी, समस्त क्षेत्रों के एकमात्र ज्ञाता एवं सर्वसाक्षी हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप स्वयं ही अपने कारण हैं। पुरुष और मूल प्रकृति के रूप में भी आप ही हैं। आपको मेरा बार-बार नमस्कार ॥१२॥

सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे।
असताच्छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ॥१३॥

आप समस्त इन्द्रियों और उनके विषयों के द्रष्टा हैं, सभी प्रतीतियों के आधार हैं। अहंकार आदि छायारूप असत् वस्तुओं के द्वारा आपका ही अस्तित्व प्रकट होता है। सभी वस्तुओं की सत्ता के रूप में भी केवल आप ही भासित हो रहे हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥१३॥

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय
निष्कारणायाद्भुतकारणाय ।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय
नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥१४॥

आप सबके मूल कारण हैं । आपका कोई कारण नहीं है । कारण होने पर भी आपमें विकार या परिणाम नहीं होता, इसलिए आप अनोखे कारण हैं । आपको मेरा बार-बार नमस्कार । जैसे समस्त नदी झरनों आदि का परम आश्रय समुद्र है, वैसे ही आप सारे वेद और शास्त्रों के परम तात्पर्य हैं । आप मोक्षस्वरूप हैं और समस्त संत आपकी ही शरण ग्रहण करते हैं, अतः आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१४॥

गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय
तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय ।
नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागम—
स्वयंप्रकाशाय नमस्करोमि ॥१५॥

जैसे यज्ञ के काष्ठ-अरणि में अग्नि गुप्त रहता है, वैसे ही आपने अपने ज्ञान को गुणों की माया से ढक रखा है । गुणों में क्षोभ होने पर उनके द्वारा विविध प्रकार की सृष्टि-रचना का आप संकल्प करते हैं । जो लोग कर्म-संन्यास अथवा कर्म-समर्पण के द्वारा आत्मतत्त्व की भावना करके वेद-शास्त्रों से ऊपर उठ जाते हैं, उनके आत्मा के रूप में आप स्वयं ही प्रकाशित हो जाते हैं । आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१५॥

मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय ।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत—
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥१६॥

जैसे कोई दयालु पुरुष फंदे में पड़े हुए पशु का बन्धन काट दे, वैसे ही आप मुझ-जैसे शरणागतों की फाँसी काट देते हैं । आप नित्य-मुक्त हैं, परम करुणामय हैं और भक्तों का कल्याण करने में आप कभी

आलस्य नहीं करते। आपके चरणों में मेरा नमस्कार है। समस्त प्राणियों के हृदय में अपने अंश के द्वारा अन्तरात्मा के रूप में आप प्राप्त होते रहते हैं। सर्वैश्वर्यपूर्ण एवं अनन्त हैं आप। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥१६॥

आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै—
दुष्प्रापणाय गुणसंगविवर्जिताय।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥१७॥

जो लोग शरीर, पुत्र, गुरुजनों, गृह, सम्पत्ति और स्वजनों में आसक्त हैं—उनके लिए आपकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है, क्योंकि आप स्वयं गुणों की आसक्ति से रहित हैं। जीवन्मुक्त पुरुष अपने हृदय में आपका निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं। ऐसे आप सर्वैश्वर्यपूर्ण ज्ञान-स्वरूप भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१७॥

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं
करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥१८॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना से मनुष्य उन्हीं का भजन करके अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं, वे उनको सभी प्रकार का सुख देते हैं और अपने ही जैसा अविनाशी पार्षद-शरीर भी देते हैं। वे ही परमदयालु प्रभु मेरा उद्धार करें ॥१८॥

एकान्तिनो यस्य न कंचनार्थं
वांछन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमंगलं
गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥१९॥

जिनके अनन्य प्रेमी भक्तजन उन्हीं की शरण में रहते हुए, उनसे किसी भी वस्तु की—यहाँ तक कि मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं करते, केवल उनकी परम दिव्य मंगलमयी लीलाओं का गान करते हुए आनन्द

के समुद्र में निमग्न रहते हैं ॥१९॥

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश—
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर—
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥२०॥

जो अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जो अत्यन्त निकट रहने पर भी बहुत दूर जान पड़ते हैं, जो आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोग के द्वारा प्राप्त होते हैं—उन आदिपुरुष, अनन्त एवं परिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा की मैं स्तुति करता हूँ ॥२०॥

यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः ।
नामरूपविभेदेन फल्गव्या च कलया कृताः ॥२१॥
यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो
निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः ।
तथा यतोऽयं गुणसंप्रवाहो
बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ॥२२॥
स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्—
निषेधशेषो जयतादशेषः ॥२३॥

जिनकी अत्यन्त छोटी कला से अनेक नामरूप के भेद-भाव से युक्त ब्रह्मा आदि देवता, वेद और चराचर लोकों की सृष्टि हुई है, जैसे धधकती हुई आग से लपटें और प्रकाशमान सूर्य से उसकी किरणें बार-बार निकलती और लीन होती रहती हैं, वैसे ही जिन स्वयंप्रकाश परमात्मा से बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर—जो गुणों के प्रवाहरूप हैं—बार-बार प्रकट होते तथा लीन हो जाते हैं, वे भगवान् न देवता हैं और न असुर। वे मनुष्य और पशु-पक्षी भी नहीं हैं। न वे स्त्री हैं, न पुरुष और न नपुंसक। वे कोई साधारण या असाधारण प्राणी भी

नहीं हैं। न वे गुण हैं और न कर्म, न कार्य हैं और न कारण ही। सबको निकाल देने पर जो-कुछ बच रहता है, वही उनका स्वरूप है तथा वे ही सब-कुछ हैं। वे ही परमात्मा मेरे उद्धार के लिए प्रकट हों ॥२१-२३॥

जिजीविषे नाहमिहामुया कि—
मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव—
स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥२४॥

मैं जीना नहीं चाहता। यह हाथी की योनि बाहर और भीतर—सब ओर से अज्ञान-रूप आवरण द्वारा ढकी हुई है, इसको रखकर करना ही क्या है? मैं तो आत्म-प्रकाश को ढकनेवाले उस अज्ञान-रूप आवरण से छूटना चाहता हूँ, जो कालक्रम से अपने-आप नहीं छूट सकता, जो केवल भगवत्कृपा अथवा तत्त्वज्ञान के द्वारा ही नष्ट होता है ॥२४॥

सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥२५॥

इसलिए मैं उन परब्रह्म परमात्मा की शरण में हूँ, जो विश्वरहित होने पर भी विश्व के रचयिता और विश्वस्वरूप हैं—साथ ही जो विश्व की अन्तरात्मा के रूप में विश्वरूप सामग्री से क्रीड़ा भी करते रहते हैं, उन अजन्मा परमपद-स्वरूप ब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२५॥

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥२६॥

योगी लोग योग द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्मफल को भस्म कर अपने योगशुद्ध हृदय में जिन योगेश्वर भगवान् का साक्षात्कार करते हैं—उन प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२६॥

नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेग—
शक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये
कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥२७॥

प्रभो ! आपकी तीन शक्तियों—सत्त्व, रज और तम के रागादि वेग असह्य हैं। समस्त इन्द्रियों और मन के विषयों के रूप में भी आप ही प्रतीत हो रहे हैं। इसलिए जिनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, वे आपकी प्राप्ति का मार्ग भी नहीं पा सकते। आपकी शक्ति अनन्त है। आप शरणागतवत्सल हैं। आपको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥२७॥

नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम्।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥२८॥

आपकी माया सोऽहंबुद्धि से आत्मा का स्वरूप ढक गया है, इसी से यह जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता। आपकी महिमा अपार है। आप सर्वशक्तिमान एवं माधुर्यनिधि भगवान् की मैं शरण में हूँ ॥२८॥

[स्कंध ८, अध्याय ३]

देवों द्वारा स्तुति

[जब भूभार उतारने के लिए ब्रह्मादि देवों ने विष्णु भगवान् से प्रार्थना की, तब वे देवकी के गर्भ में प्रविष्ट हुए। उस समय सब देवताओं ने उनकी इस प्रकार स्तुति की।]

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना ॥१॥

प्रभो! आप सत्यसंकल्प हैं। सत्य ही आपको प्राप्त करने का उत्तम साधन है। सृष्टि के पूर्व, प्रलय के पश्चात् और संसार की स्थिति के समय—इन असत्य अवस्थाओं में भी आप सत्य हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच सत्यों के आप ही कारण हैं, और उनमें अन्तर्यामी-रूप से विराजमान भी हैं। आप इस दृश्यमान जगत् के परमार्थस्वरूप हैं। आप ही मधुर वाणी और समदर्शन के प्रवर्तक हैं। भगवन्! आप तो बस, सत्यस्वरूप ही हैं। हम सब आपकी शरण में आये हैं ॥१॥

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल—
श्चतूरसः पंचविधः षडात्मा
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥२॥

यह संसार क्या है, एक सनातन वृक्ष है। इस वृक्ष का आश्रय है—एक प्रकृति। इसके दो फल हैं—सुख और दुःख; तीन जड़ें हैं—सत्त्व, रज और तम; चार रस हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसके जानने के पाँच प्रकार हैं—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका। इसके छह स्वभाव हैं—पैदा होना, रहना, वढ़ना, वदलना, घटना और नष्ट हो जाना। इस वृक्ष की छाल है सात धातुएँ—रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। आठ शाखाएँ हैं–पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार। इसमें मुख आदि नवों द्वार हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय—ये दस प्राण ही इसके पत्ते हैं। इस संसार-रूपी वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए हैं—जीव और ईश्वर ॥२॥

त्वमेक एवास्य सतः प्रसूति—
स्त्वं संनिधानं त्वमनुग्रहश्च।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां
पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥३॥

इस वृक्ष की उत्पत्ति के आधार एकमात्र आप ही हैं। आपमें ही इसका प्रलय होता है और आपके ही अनुग्रह से इसकी रक्षा भी होती है। जिनका चित्त आपकी माया से घिरा हुआ है, और इस सत्य को समझने की शक्ति खो बैठा है, वे ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने-वाले ब्रह्मादि देवताओं को अनेक देखते हैं। तत्त्वज्ञानी तो सबके रूप में केवल आपका ही दर्शन करते हैं ॥३॥

बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ।।४।।

आप ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं। चराचर जगत् के कल्याण के लिए ही अनेक रूप धारण करते हैं। आपके वे रूप विशुद्ध अप्राकृत सत्त्व-मय होते हैं और संत जनों को बहुत सुख देते हैं। साथ ही दुष्टों को उनकी दुष्टता का दंड भी देते हैं। उनके लिए आप अमंगलमय होते हैं ।।४।।

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ।।५।।

कमल के समान कोमल अनुग्रहपूर्ण नेत्रोंवाले प्रभो! कुछ बिरले लोग ही आपके समस्त पदार्थों और प्राणियों के आश्रय-रूप में पूर्ण एकाग्रता से अपना चित्त लगा पाते हैं और आपके चरणकमल-रूपी जहाज का आश्रय लेकर संसार-सागर को बछड़े के खुर के गढ़े के समान अनायास ही पार कर जाते हैं। क्यों न हो, संतों ने इसी जहाज से संसार-सागर को पार जो किया है ।।५।।

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते
निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ।।६।।

परम प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आपके भक्तजन सारे जगत् के निष्कपट प्रेमी, सच्चे हितैषी होते हैं। वे स्वयं तो इस भयंकर और कष्ट से पार करने योग्य संसार-सागर को पार कर ही जाते हैं, किन्तु औरों के कल्याण के लिए भी वे यहाँ आपके चरणकमलों की नौका स्थापित कर जाते हैं। वास्तव में सत्पुरुषों पर आपकी महान् कृपा है,

उनके लिए आप अनुग्रहस्वरूप ही हैं ।।६।।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन—
स्तवय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।७।।

कमलनयन ! जो लोग आपके चरणकमलों की शरण नहीं लेते तथा आपके प्रति भक्तिभाव-रहित होने के कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपने-आपको झूठ-मूठ मुक्त मानते हैं। वास्तव में वे तो वद्ध ही हैं। यदि बड़ी तपस्या और साधना का कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचे-से-ऊँचे पद पर भी वे पहुँच जायें, तो भी वहाँ से नीचे गिर जाते हैं ।।७।।

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ।।८।।

परन्तु भगवन् ! जो आपके अपने निज जन हैं, जिन्होंने आपके चरणों में अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियों की भाँति साधन-मार्ग से गिरते नहीं। प्रभो ! वे वड़े-वड़े विघ्न डालनेवालों की सेना के सरदारों के सिर पर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकता, क्योंकि उनके रक्षक आप जो हैं ।।८।।

सत्त्वं विशुद्ध श्रयते भवान् स्थितौ
शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभि—
स्तवार्हणं येन जनः समीहते ।।९।।

आप संसार की स्थिति के लिए समस्त देहधारियों को परमकल्याण प्रदान करनेवाला विशुद्ध सत्त्वमय, सच्चिदानन्दमय परमदिव्य मंगल-विग्रह प्रकट करते हैं। उस रूप के प्रकट होने से आपके भक्त वेद,

कर्मकाण्ड, अष्टांगयोग, तपस्या और समाधि के द्वारा आपकी आराधना करते हैं। बिना किसी आश्रय के वे आखिर किसकी आराधना करेंगे ? ॥९॥

सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्
विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान्
प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥१०॥

प्रभो ! आप सबके विधाता हैं। यदि आपका यह विशुद्ध सत्त्व-मय निज स्वरूप न हो, तो अज्ञान और उसके द्वारा होनेवाले भेदभाव को नष्ट करनेवाला अपरोक्ष ज्ञान ही किसी को न हो। जगत् में दीखने-वाले तीनों गुण आपके हैं और आपके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, यह सत्य है। परन्तु इन गुणों की प्रकाशक वृत्तियों से आपके स्वरूप का केवल अनुमान ही होता है, वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। (आपके स्वरूप का साक्षात्कार तो आपके इस विशुद्ध सत्त्व-मय स्वरूप की सेवा करने पर आपकी कृपा से ही होता है) ॥१०॥

न नामरूपे गुणजन्मकर्मभि—
र्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो
देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥११॥

भगवन् ! मन और वेद-वाणी के द्वारा आपके स्वरूप का मात्र अनुमान होता है, क्योंकि आप उनके द्वारा दृश्य नहीं, उनके साक्षी हैं। इसलिए आपके गुण, जन्म, कर्म आदि के द्वारा आपके नाम और रूप का निरूपण नहीं किया जा सकता। फिर भी प्रभो ! आपके भक्तजन उपासना आदि क्रियायोगों के द्वारा आपका साक्षात्कार तो करते ही हैं ॥११॥

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मंगलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो—
राविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥१२॥

जो व्यक्ति आपके मंगलमय नामों और रूपों का श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करता है और आपके चरणकमलों की सेवा में ही अपना चित्त लगाये रहता है—उसे फिर जन्म-मृत्युरूप संसार के चक्र में नहीं आना पड़ता ॥१२॥

दिष्टचा हरेऽस्या भवतः पदो भुवो
भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः।
दिष्टचांकितां त्वत्पदकैः सुशोभनै—
र्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ॥१३॥

सम्पूर्ण दुःखों के हरनेवाले भगवन्! आप सर्वेश्वर हैं। यह पृथ्वी तो आपका चरणकमल ही है। आपके अवतार से इसका भार दूर हो गया। धन्य है! प्रभो! हमारे लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हम लोग आपके सुन्दर-सुन्दर चिह्नों से युक्त चरणकमलों द्वारा विभूषित पृथ्वी को देखेंगे और स्वर्गलोक को भी आपकी कृपा से कृतार्थ देखेंगे ॥१३॥

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं
विना विनोदं बत तर्कयामहे।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया
कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥१४॥

प्रभो! आप अजन्मा हैं। यदि आपके जन्म के कारण के सम्बन्ध में हम कोई तर्कना करें, तो यही कह सकते हैं कि यह आपका एक लीला-विनोद है। ऐसा कहने का कारण यह है कि आप तो द्वैत के लेश से रहित सर्वाधिष्ठान-स्वरूप हैं और इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय अज्ञान के द्वारा आपमें आरोपित हैं ॥१४॥

मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंस—
राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥१५॥

प्रभो ! आपने जैसे अनेक वार मत्स्य, हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राम, परशुराम और वामन अवतार धारण करके हम लोगों की और तीनों लोकों की रक्षा की है—वैसे ही आप इस वार भी पृथ्वी का भार हरण कीजिए। यदुनन्दन ! हम आपके चरणों में वन्दना करते हैं ॥१५॥

[स्कंध १०, अध्याय २]

ब्रह्मा द्वारा स्तुति

[ब्रह्मा ने एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण के सामर्थ्य की परीक्षा लेने के लिए ग्वाल-बाल एवं बछड़ों का अपहरण कर लिया। किन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी मायाशक्ति से उनका वैसा ही रूप उत्पन्न कर दिया। ब्रह्मा ने अपने लोक में भी भगवान् के स्वरूप का दर्शन किया। इन सब घटनाओं से अभिभूत होकर ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण से क्षमा-याचना करते हुए इस प्रकार स्तुति की।]

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुंजावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु—
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपांगजाय ॥१॥

प्रभो ! एकमात्र आप ही स्तुति करने योग्य हैं। मैं आपके चरणों में नमस्कार करता हूँ। आपका यह शरीर वर्षाकालीन मेघ के समान श्यामल है, इस पर स्थिर बिजली के सदृश झिलमिल-झिलमिल करता हुआ पीताम्बर शोभित है। गले में घुँघची की माला, कानों में मकराकृति कुण्डल और सिर पर मोरपंखों का मुकुट है। इन सबकी कान्ति से आपके मुख पर अनोखी छटा छिटक रही है। वक्षःस्थल पर लटकती

हुई वनमाला और नन्हीं-सी हथेली पर दही-भात का कौर, वगल में बेंत और सींग तथा कमर के फेंटे में आपका परिचय देनेवाली बाँसुरी शोभा पा रही है। कमल-से सुकोमल परम सुकुमार चरण और यह गोपाल बालक का सुमधुर वेश (मैं और कुछ नहीं जानता; बस, मैं तो इन्हीं चरणों पर निछावर हूँ) ॥१॥

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न नु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महित्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥२॥

स्वयंप्रकाश परमात्मन्! आपका यह श्रीविग्रह भक्तजनों की लालसा-अभिलाषा पूर्ण करनेवाला है। आपकी यह चिन्मयी इच्छा का मूर्तिमान् स्वरूप मुझ पर आपका साक्षात् कृपा-प्रसाद है। मुझे अनु-गृहीत करने के लिए ही आपने इसे प्रकट किया है। कौन कहता है कि यह पंचभूतों की रचना है? प्रभो! यह तो अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय है। मैं या और कोई समाधि लगाकर भी इस सच्चिदानन्द-विग्रह की महिमा नहीं जान सकता। फिर आत्मानन्दानुभव-स्वरूप साक्षात् आपकी महिमा को तो कोई एकाग्र मन से भी कैसे जान सकता है? ॥२॥

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिता श्रुतिगितां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥३॥

प्रभो! जो लोग ज्ञान के लिए प्रयत्न न करके अपने स्थान में ही स्थित रहकर केवल सत्संग करते हैं और आपके प्रेमी संतजनों द्वारा गाई हुई आपकी लीला-कथा का जो उन लोगों के पास रहने से अपने-आप सुनने को मिलती है, शरीर, वाणी और मन से विनयावनत होकर सेवन करते हैं—यहाँ तक कि उसे ही अपना जीवन बना लेते हैं, उसके बिना जी ही नहीं सकते—प्रभो! यद्यपि आप पर त्रिलोकों में कोई

कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकता, फिर भी वे आप पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, आप उनके प्रेम के अधीन हो जाते हैं ।।३।।

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।।४।।

भगवन् ! आपकी भक्ति सब प्रकार के कल्याण का मूल स्रोत—उद्गम है । जो लोग उसे छोड़कर केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रम उठाते और कष्ट भोगते हैं, उनको बस, क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगता है, और कुछ नहीं—जैसे थोथी भूसी कूटनेवाले को केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं ।।४।।

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिन—
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ।।५।।

हे अच्युत ! हे अनन्त ! इस लोक में पहले भी बहुत-से योगी हो गये हैं । जब उन्हें योगादि द्वारा आपकी प्राप्ति न हुई, तब उन्होंने अपने लौकिक और वैदिक समस्त कर्म आपके चरणों में समर्पित कर दिये । उन समर्पित कर्मों तथा आपकी लीला-कथा से उन्हें आपकी भक्ति प्राप्त हुई । उस भक्ति से ही आपके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें बड़ी सुगमता से परमपद प्राप्त कर लिया ।।५।।

तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ।।६।।

हे अनन्त ! आपके सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों का ज्ञान कठिन होने पर भी निर्गुण स्वरूप की महिमा इन्द्रियों का प्रत्याहार करके शुद्धान्तःकरण से जानी जा सकती है । (जानने की प्रक्रिया यह है कि)

विशेष आकार के परित्यागपूर्वक आतमाकार अन्त:करण का साक्षात्कार किया जाये। यह आत्माकारता घट-पटादि रूप के समान ज्ञेय नहीं है, प्रत्युत आवरण का भंग-मात्र है। यह साक्षात्कार 'यह ब्रह्म है', 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ', इस प्रकार नहीं, किन्तु स्वयंप्रकाशरूप से ही होता है ॥६॥

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै—
र्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥७॥

परन्तु भगवन्! जिन समर्थ पुरुषों नें अनेक जन्मों तक परिश्रम करके पृथ्वी का एक-एक परमाणु, आकाश के हिमकण (ओस की बूंदें) तथा उसमें चमकनेवाले नक्षत्र एवं तारों तक को गिन डाला है—उनमें भी, भला, ऐसा कौन हो सकता है, जो आपके सगुण स्वरूप के अनन्त गुणों को गिन सके? प्रभो! आप केवल संसार के कल्याण के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं। सो भगवन्! आपकी महिमा का ज्ञान होना तो बड़ा ही कठिन है ॥७॥

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुंजान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥८॥

इसलिए जो पुरुष क्षण-क्षण पर बड़ी उत्सुकता से आपकी कृपा का ही भली-भाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्ध के अनुसार जो-कुछ सुख या दु:ख प्राप्त होता है उसे निर्विकार मन से भोग लेता है, तथा जो प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद् वाणी और पुलकित शरीर से अपने को आपके चरणों में समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति ठीक वैसे ही आपके परमपद का अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिता की सम्पत्ति का पुत्र ॥८॥

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये
परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं
ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥९॥

प्रभो ! मेरी कुटिलता तो देखिए। आप अनन्त आदि-पुरुष परमात्मा हैं और मुझ-जैसे बड़े-बड़े मायावी भी आपकी माया के चक्र में पड़े हुए हैं। फिर भी मैंने आप पर अपनी माया फैलाकर अपना ऐश्वर्य देखना चाहा। प्रभो ! मैं आपके सामने हूँ ही क्या ? क्या आग के सामने चिनगारी की भी कोई गिनती है ? ॥९॥

अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो
ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष
एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥१०॥

भगवन् ! मैं रजोगुण से उत्पन्न हुआ हूँ। आपके स्वरूप को मैं ठीक-ठीक नहीं जानता। इसीसे अपने को आपसे अलग संसार का स्वामी माने बैठा था। 'मैं अजन्मा जगत्कर्त्ता हूँ'—इस मायाकृत मोह के घने अन्धकार से मैं अंधा हो रहा था। इसलिए आप यह समझकर कि 'यह मेरे ही अधीन है—मेरा भृत्य है, इस पर कृपा करनी चाहिए', मेरा अपराध क्षमा कीजिए ॥१०॥

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू–
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या–
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥११॥

मेरे स्वामी ! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी-रूप आवरणों से घिरा हुआ यह ब्रह्माण्ड ही मेरा शरीर है और आपके एक-एक रोम के छिद्र में ऐसे-ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड उसी प्रकार उड़ते-पड़ते रहते हैं, जैसे झरोखे की जाली में से आनेवाली सूर्य की किरणों में रज के छोटे-छोटे परमाणु उड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं।

कहाँ अपने परिमाण से साढ़े तीन हाथ के शरीरवाला अत्यन्त क्षुद्र मैं और कहाँ आपकी अनन्त-अनन्त महिमा ! ।।११।।

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ।।१२।।

वृत्तियों की पकड़ में न आनेवाले परमात्मन् ! जब बच्चा माता के पेट में रहता है, तब अज्ञानवश अपने हाथ-पैर पीटता है; परन्तु क्या माता उसे अपराध समझती है या उसके लिए वह कोई अपराध होता है ? 'है' और 'नहीं है'—इन शब्दों से कही जानेवाली कोई भी वस्तु ऐसी है क्या जो आपकी कोख के भीतर न हो ? ।।१२।।

जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे
नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विवति वाङ् न वै मृषा
किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि ।।१३।।

श्रुतियाँ कहती हैं कि जिस समय तीनों लोक प्रलयकालीन जल में लीन थे, उस समय उस जल में स्थित नारायण के नाभिकमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ। उनका यह कहना किसी प्रकार असत्य नहीं हो सकता। तब आप ही बतलाइये, प्रभो ! क्या मैं आपका पुत्र नहीं हूँ ? ।।१३।।

नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिना—
मात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायना—
त्तच्चापि सत्यं न तवैव माया ।।१४।।

प्रभो ! आप समस्त जीवों के आत्मा हैं। इसलिए आप नारायण (नार अर्थात् जीव और अयन अर्थात् आश्रय) हैं। आप समस्त जगत् और जीवों के अधीश्वर हैं; इसलिए आप नारायण (नार—जीव और अयन—प्रवर्तक) हैं। आप समस्त लोकों के साक्षी हैं, इसलिए भी नारायण (नार—जीव और अयन—जाननेवाले) हैं। नर से उत्पन्न

होनेवाले जल में निवास करने के कारण जिन्हें नारायण (नार—जल और अयन—निवासस्थान) कहा जाता है, वे भी आपके एक अंश ही हैं। वह अंशरूप से दीखना भी सत्य नहीं है, आपको माया ही है ॥१४॥

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः
किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव
किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥१५॥

भगवन् ! यदि आपका वह विराट् स्वरूप सचमुच उस समय जल में ही था, तो मैंने उसी समय उसे क्यों नहीं देखा, जबकि मैं कमलनाल के मार्ग से उसे सौ वर्ष जल में ढूँढ़ता रहा ? फिर मैंने जब तपस्या की, तब उसी समय मेरे हृदय में उसका दर्शन कैसे हो गया ? और फिर कुछ ही क्षणों में वह पुनः क्यों नहीं दीखा, अन्तर्धान क्यों हो गया ? ॥१५॥

अत्रैव मायाधमनावतारे
ह्यस्य प्रपंचस्य बहिः स्फुटस्य।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या
मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥१६॥

माया का नाश करनेवाले प्रभो ! दूर की बात कौन करे, अभी इसी अवतार में आपने इस बाहर दीखनेवाले जगत् को अपने उदर में ही दिखला दिया, जिसे देखकर माता यशोदा चकित हो गई थीं। इससे यही तो सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण विश्व केवल आपकी माया-ही-माया है ॥१६॥

यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा।
तत्त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना ॥१७॥

जब आपके सहित यह सम्पूर्ण विश्व जैसा बाहर दीखता है वैसा ही आपके उदर में भी दीखा, तब क्या यह सब आपकी माया के विना ही आपमें प्रतीत हुआ ? अवश्य ही यह आपकी लीला है ॥१७॥

अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते
मायात्वमादर्शित—
मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्
वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः
साकं मयोपासिता—
स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं
ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥१८॥

उस दिन की बात जाने दीजिए, आज की ही लीजिए। क्या आज आपने मेरे सामने अपने अतिरिक्त संपूर्ण विश्व को अपनी माया का खेल नहीं दिखलाया है? पहले आप अकेले थे। फिर सम्पूर्ण ग्वाल-वाल, बछड़े और छड़ी-छींके भी आप ही हो गये। उसके बाद मैंने देखा कि आपके वे सब रूप चतुर्भुज हैं और मुझ सहित सब-के-सब उनकी सेवा कर रहे हैं। आपने अलग-अलग उतने ही ब्रह्माण्डों का रूप भी धारण कर लिया था, परन्तु अब आप केवल अपरिमित अद्वितीय ब्रह्म-रूप से ही शेष रह गये हैं ॥१८॥

अजानतां त्वत्पदवीमनात्म—
न्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम्।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान
इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥१९॥

जो लोग अज्ञानवश आपके स्वरूप को नहीं जानते, उन्हीं को आप प्रकृति में स्थित जीव के रूप-जैसे प्रतीत होते हैं और उन पर अपनी माया का परदा डालकर सृष्टि के समय मेरे (ब्रह्मा) रूप से, पालन के समय अपने (विष्णु) रूप से और संहार के समय रुद्र के रूप में प्रतीत होते हैं ॥१९॥

सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥२०॥

प्रभो ! आप सारे जगत् के स्वामी और विधाता हैं। अजन्मा होने पर भी आप देवता, ऋषि, मनुष्य, पशु-पक्षी और जलचर आदि योनियों में अवतार ग्रहण करते हैं—इसलिए कि इन रूपों के द्वारा दुष्ट प्राणियों का घमण्ड तोड़ दें और सत्पुरुषों पर अनुग्रह करें ॥२०॥

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥२१॥

भगवन् ! आप अनन्त परमात्मा और योगेश्वर हैं। जिस समय आप अपनी योगमाया का विस्तार करके लीला करने लगते हैं, उस समय त्रैलोक्य में ऐसा कौन है, जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, किसलिए, कब, कैसी और कितनी होती है ? ॥२१॥

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥२२॥

इसलिए यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्न के समान असत्य, अज्ञानरूप और दुःख-पर-दुःख देनेवाला है। आप परमानन्द, परम ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं। यह माया से उत्पन्न और विलीन होने पर भी आपमें आपकी सत्ता से सत्य के समान प्रतीत होता है ॥२२॥

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरंजनः
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥२३॥

प्रभो ! आप ही एकमात्र सत्य हैं, क्योंकि आप सबके आत्मा जो हैं। आप पुराणपुरुष होने के कारण समस्त जन्मादि विकारों से रहित हैं। आप स्वयंप्रकाश हैं, इसलिए देश, काल और वस्तु—जो परप्रकाश हैं—किसी प्रकार आपको सीमित नहीं कर सकते। आप उनके भी आदि प्रकाशक हैं। आप अविनाशी होने के कारण नित्य हैं। आपका आनन्द अखण्डित है। आपमें न तो किसी प्रकार का मल है और न अभाव। आप पूर्ण हैं, एक हैं। समस्त उपाधियों से मुक्त होने के कारण आप अमृतस्वरूप हैं ॥२३॥

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा
ये ते तरन्तीव भवानृताताम्बुधिम् ॥२४॥

आपका यह ऐसा स्वरूप समस्त जीवों का ही अपना स्वरूप है। जो गुरुरूप सूर्य से तत्वज्ञानरूप दिव्य दृष्टि प्राप्त कर उससे आपको अपने स्वरूप के रूप में साक्षात्कार कर लेते हैं, वे इस झूठे संसार-सागर को मानो पार कर जाते हैं। (संसार-सागर के झूठा होने के कारण इससे पार जाना भी अविचार-दशा की दृष्टि से ही है)॥२४॥

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपंचितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते
रज्जवामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥२५॥

जो परमात्मा को आत्मा के रूप में नहीं जानते, उन्हें उस अज्ञान के कारण ही इस नामरूपात्मक अखिल प्रपंच की उत्पत्ति का भ्रम हो जाता है। किन्तु ज्ञान होते ही इसका आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है। जैसे रस्सी में भ्रम के कारण ही साँप की प्रतीति होती है और भ्रम के कारण निवृत्त होते ही उसकी निवृत्ति हो जाती है ॥२५॥

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥२६॥

संसार-संबंधी बन्धन और उससे मोक्ष—ये दोनों ही नाम अज्ञान से कल्पित हैं। वास्तव में ये अज्ञान के ही दो नाम हैं। ये सत्य और ज्ञानस्वरूप परमात्मा से भिन्न अस्तित्व नहीं रखते। जैसे सूर्य में दिन और रात का भेद नहीं है, वैसे ही विचार करने पर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्व में न वन्धन है और न मोक्ष ॥२६॥

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता ॥२७॥

भगवन्! कितने आश्चर्य की वात है कि आप हैं अपने आत्मा, पर लोग आपको पराया मानते हैं। और शरीर आदि हैं पराये, किन्तु उनको आत्मा मान बैठते हैं और इसके वाद आपको कहीं अन्यत्र ढूँढ़ने लगते हैं। भला, अज्ञानी जीवों का यह कितना वड़ा अज्ञान है! ॥२७॥

अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव
ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण
सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः ॥२८॥

हे अनन्त! आप तो सवके अन्तःकरण में ही विराजमान हैं। इसलिए संतजन आपके सिवाय जो-कुछ भी प्रतीत हो रहा है, उसका परित्याग करते हुए अपने भीतर ही आपको ढूँढ़ते हैं। क्योंकि यद्यपि रस्सी में साँप नहीं है, फिर भी उस प्रतीयमान साँप को मिथ्या निश्चय किये बिना भला, कोई सत्पुरुष सच्ची रस्सी को कैसे जान सकता है ॥२८॥

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय—
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ।।२९।।

अपने भक्तजनों के हृदय में स्वयं स्फुरित होनेवाले भगवन् ! आपके ज्ञान का स्वरूप और महिमा ऐसी ही है। उससे अज्ञानकल्पित जगत् का नाश हो जाता है। फिर भी जो आपके युगल चरणकमलों का तनिक-सा भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है—वही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमा का तत्त्व जान सकता है। दूसरा कोई भी ज्ञान-वैराग्यादि साधनरूप अपने प्रयत्न से बहुत काल तक कितना भी अनुसन्धान करता रहे, वह आपकी महिमा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता ।।२९।।

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ।।३०।।

इसलिए भगवन्। मुझे इस जन्म में, दूसरे जन्म में अथवा किसी पशु-पक्षी आदि के जन्म में भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासों में से कोई एक दास हो जाऊँ और फिर आपके चरणकमलों की सेवा करूँ ।।३०।।

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना
यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ।।३१।।

मेरे स्वामी ! जगत् के बड़े-बड़े यज्ञ सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक आपको पूर्णतः तृप्त न कर सके। परन्तु आपने ब्रज की गायों और ग्वालिनों के बछड़े और बालक बनकर उनके स्तनों का अमृत-सा दूध बड़े उमंग से पिया है। वास्तव में उन्हीं का जीवन सफल है,

वे ही अत्यन्त धन्य हैं ॥३१॥

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥३२॥

अहो, नन्द आदि व्रजवासी गोपों के धन्य भाग्य हैं। वास्तव में उनका अहोभाग्य है। क्योंकि परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म आप उनके अपने सगे-सम्बन्धी और सुहृद हैं ॥३२॥

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता—
मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥३३॥

हे अच्युत ! इन व्रजवासियों के सौभाग्य की महिमा तो अलग रही—मन आदि ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठातृ-देवता के रूप में रहनेवाले महादेव आदि हम लोग भी बड़े ही भाग्यवान् हैं। क्योंकि इन व्रजवासियों की मन आदि ग्यारह इन्द्रियों को प्याले बनाकर हम आपके चरणकमलों का अमृत से भी मीठा, मदिरा से भी मादक मधुर मकरन्द-रस पान करते रहते हैं। जब उसका एक-एक इन्द्रिय से पान करके हम धन्य-धन्य हो रहे हैं, तब समस्त इन्द्रियों से उसका सेवन करनेवाले व्रजवासियों की तो बात ही क्या है ! ॥३३॥

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द—
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥३४॥

प्रभो ! इस व्रजभूमि के किसी वन में और विशेष करके गोकुल में किसी भी योनि में जन्म हो जाये, यही हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात होगी। यहाँ जन्म हो जाने पर आपके किसी-न-किसी प्रेमी के चरणों की धूलि अपने ऊपर पड़ ही जायेगी। प्रभो ! आपके प्रेमी व्रजवासियों का संपूर्ण जीवन आपका ही जीवन है। आप ही उनके जीवन के एकमात्र सर्वस्व हैं। इसलिए उनके चरणों की धूलि मिलना

आपके ही चरणों की धूलि मिलना है और आपके चरणों की धूलि को तो श्रुतियाँ भी अनादि काल से अब तक ढूँढ़ ही रही हैं ।।३४।।

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न—
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ।।३५।।

देवताओं के भी आराध्यदेव प्रभो ! इन व्रजवासियों को इनकी सेवा के बदले में आप क्या फल देंगे ? सम्पूर्ण फलों के फलस्वरूप ! आपसे बढ़कर और कोई फल तो है ही नहीं, यह सोचकर मेरा चित्त मोहित हो रहा है । आप उन्हें अपना स्वरूप भी देकर उऋण नहीं हो सकते, क्योंकि आपके स्वरूप को तो उस पूतना ने भी अपने सम्बन्धियों—अघासुर, बकासुर आदि के साथ प्राप्त कर लिया, जिसका केवल वेश ही साध्वी स्त्री का था, पर हृदय से जो महान् क्रूर थी । फिर, जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन—सब-कुछ आपके ही चरणों में समर्पित कर दिया है, जिनका सब-कुछ आपके ही लिए है, उन व्रजवासियों को भी वही फल देकर आप कैसे उऋण हो सकते हैं ? ।।३५।।

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ।।३६।।

सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर ! तभी तक राग-द्वेष आदि दोष चोरों के समान सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं, तभी तक घर और उसके सम्बन्धी कैद की तरह सम्बन्ध के बंधनों में बाँधे रखते हैं और तभी तक मोह पैर की बेड़ियों की तरह जकड़े रखता है, जब तक जीव आपका नहीं हो जाता ।।३६।।

प्रपंचं निष्प्रपंचोऽपि विडम्बयसि भूतले ।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ।।३७।।

प्रभो ! आप विश्व के बखेड़े से सर्वथा रहित हैं, फिर भी अपने शरणागत भक्तजनों को अनन्त आनन्द वितरण करने के लिए पृथ्वी

पर अवतार लेकर विश्न के समान आप ही लीलाविलास का विस्तार करते हैं ।।३७।।

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्तया न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ।।३८।।

मेरे स्वामी ! बहुत कहने की आवश्यकता नहीं—जो लोग आपकी महिमा जानते हैं, वे जानते रहें; मेरे मन, वाणी और शरीर तो आपकी महिमा जानने में सर्वथा असमर्थ हैं ।।३८।।

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं वेत्सि सर्वदृक्।
त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम् ।।३९।।

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! आप सबके साक्षी हैं। इसलिए आप सब-कुछ जानते हैं। आप समस्त जगत् के स्वामी हैं। यह सम्पूर्ण प्रपंच आपमें ही स्थित है। आपसे मैं और क्या कहूँ ? अब आप मुझे स्वीकार कीजिए। मुझे अपने लोक में जाने की आज्ञा दीजिए ।।३९।।

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु—
गाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते ।।४०।।

सबके मन-प्राण को अपनी रूप-माधुरी से आकर्षित करनेवाले श्यामसुन्दर ! आप यदुवंशरूप कमल को विकसित करनेवाले सूर्य हैं। प्रभो ! पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशुरूप समुद्र की वृद्धि करनेवाले चन्द्रमा भी आप ही हैं। आप पाखण्डियों की धर्मरूप रात्रि का घोर अंधकार नष्ट करने के लिए सूर्य और चन्द्रमा दोनों के ही समान हैं। पृथ्वी पर रहनेवाले राक्षसों के नष्ट करनेवाले आप चन्द्रमा, सूर्य आदि समस्त देवताओं के भी परम पूजनीय हैं। भगवन् ! मैं अपने जीवन-भर, महाकल्पपर्यन्त आपको नमस्कार ही करता रहूँ ।।४०।।

[स्कंध १०, अध्याय १४]

अक्रूर द्वारा स्तुति

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं
नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद्
ब्रह्माऽऽविरासीद् यत एष लोकः ।।१।।

प्रभो ! आप प्रकृति आदि समस्त कारणों के परम कारण हैं। आप हीं अविनाशी पुरुषोत्तम नारायण हैं तथा आपके ही नाभिकमल से ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ है, जिन्होंने इस चराचर जगत् की सृष्टि की है। मैं आपके चरणों में नमस्कार करता हूँ ।।१।।

भूस्तोयमग्निः पवनः खमादि—
र्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे
ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ।।२।।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, मन, इन्द्रिय, सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय और उनके अधिष्ठाता-देवता—ये ही सब चराचर जगत् तथा उसके व्यवहार के कारण हैं और ये सब-के-सब आपके ही अंगस्वरूप हैं ।।२।।

नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते
ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीताः।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया
गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम् ॥३॥

प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न सभी पदार्थ 'इदंवृत्ति' के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, इसलिए ये सब अनात्मा हैं। अनात्मा होने के कारण जड़ हैं और इसलिए ये आपका स्वरूप नहीं जान सकते, क्योंकि आप तो स्वयं आत्मा ही ठहरे। ब्रह्माजी अवश्य ही आपके स्वरूप हैं। परन्तु वे प्रकृति के रजोगुण से युक्त हैं, इसलिए वे भी आपकी प्रकृति का और उसके गुणों से परे का स्वरूप नहीं जानते ॥३॥

त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम्।
साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः ॥४॥

साधु, योगी स्वयं अपने अन्तःकरण में स्थित 'अन्तर्यामी' के रूप में, सब भूत-भौतिक पदार्थों में व्याप्त परमात्मा के रूप में और सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवमण्डल में स्थित 'इष्टदेवता' के रूप में तथा उनके साक्षी महापुरुष एवं नियन्ता ईश्वर के रूप में साक्षात् आपकी ही उपासना करते हैं ॥४॥

त्रय्या च विद्यया केचित् त्वां वै वैतानिका द्विजाः।
यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया ॥५॥

बहुत-से कर्मकाण्डी ब्राह्मण कर्ममार्ग का उपदेश करनेवाली त्रयी-विद्या के द्वारा, जो आपके इन्द्र, अग्नि आदि अनेक देववाचक नाम एवं वज्रहस्त, सप्तार्चि आदि अनेक रूप बतलाती हैं, बड़े-बड़े यज्ञ करते हैं और उनसे आपकी ही उपासना करते हैं ॥५॥

एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः।
ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥६॥

बहुत-से ज्ञानी अपने समस्त कर्मों का संन्यास कर देते हैं, और शान्तभाव से स्थित हो जाते हैं। वे इस प्रकार ज्ञानयज्ञ के द्वारा ज्ञान-स्वरूप आपकी ही आराधना करते हैं ॥६॥

अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।
यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ।।७।।

और भी बहुत-से संस्कारसम्पन्न या शुद्धचित्त वैष्णवजन आपकी बतलाई हुई पांचरात्र आदि विधियों से तन्मय होकर आपके चतुर्व्यूह आदि अनेक और नारायणरूप एक स्वरूप की पूजा करते हैं ।।७।।

त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।
बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ।।८।।

भगवन् ! दूसरे लोग शिवजी के द्वारा बतलाये हुए मार्ग से, जिसके आचार्यभेद से अनेक अवान्तर भेद भी हैं, शिवस्वरूप आपकी ही पूजा करते हैं ।।८।।

सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् ।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ।।९।।]

स्वामिन् ! जो लोग दूसरे देवताओं की भक्ति करते हैं और उन्हें आपसे भिन्न समझते हैं, वे सब भी वास्तव में आपकी ही आराधना करते हैं, क्योंकि आप ही सर्व देवताओं के रूप में हैं और सर्वेश्वर भी हैं ।।९।।

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ।।१०।।

प्रभो ! जैसे पर्वतों से बहुत-सी नदियाँ निकलती हैं और वर्षा के जल से भरकर घूमती-घामती समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं, वैसे ही सभी प्रकार के उपासना-मार्ग घूम-घामकर देर-सबेर आपके ही पास पहुँच जाते हैं ।।१०।।

सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ।
तेषु हि प्राकृताः प्रोक्ता आब्रह्मस्थावरादयः ।।११।।

प्रभो ! आपकी प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम । ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक चराचर जीव प्राकृत हैं । जैसे वस्त्र सूत्रों से ओत-प्रोत रहते हैं, वैसे ही ये सब प्रकृति के इन गुणों से ही ओत-प्रोत हैं ।।११।।

तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये
सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे।
गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः
प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥१२॥

परन्तु आप सर्वस्वरूप होने पर भी उनके साथ लिप्त नहीं हैं। आपकी दृष्टि निर्लिप्त है, कारण कि आप समस्त वृत्तियों के साक्षी हैं। गुणों के प्रवाह से होनेवाली यह सृष्टि अज्ञानमूलक है। वह देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सारी योनियों में व्याप्त हैं, परन्तु आप उससे सर्वथा अलग हैं। इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥१२॥

अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं
सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः।
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः
कुक्षिर्मरुत् प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥१३॥

अग्नि आपका मुख है। पृथ्वी चरण है। सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं। आकाश नाभि है। दिशाएँ कान हैं। स्वर्ग सिर है। देवेन्द्रगण भुजाएँ हैं। समुद्र कोख है और यह वायु ही आपकी प्राणशक्ति के रूप में उपासना के लिए कल्पित हुई है ॥१३॥

रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा
मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापति-
र्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥

वृक्ष और ओषधियाँ रोम हैं। मेघ सिर के केश हैं। पर्वत आपके अस्थि-समूह और नख हैं। दिन और रात पलकों का खोलना और मीचना है। प्रजापति जननेन्द्रिय है और वृष्टि ही आपका वीर्य है ॥१४॥

त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता
लोकाः सपाला बहुजीवसंकुलाः।
यथा जले संजिहते जलौकसो-
ऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥१५॥

अविनाशी भगवन् ! जैसे जल में बहुत-से जलचर जीव और गूलर के फलों में नन्हे-नन्हे कीट रहते हैं, उसी प्रकार उपासना के लिए स्वीकृत आपके मनोमय पुरुषरूप में अनेक प्रकार के जीव-जन्तुओं से भरे हुए लोक और उनके लोकपाल कल्पित किये गये है ॥१५॥

यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं विभर्षि हि।
तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१६॥

प्रभो ! आप क्रीड़ा करने के लिए पृथ्वी पर जो-जो रूप धारण करते हैं, वे सव अवतार लोगों के शोक-मोह को धो-वहा देते हैं, और सब लोग वड़े आनन्द से आपके निर्मल यश का गान करते हैं ॥१६॥

नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च।
हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥१७॥

प्रभो ! आपने वेदों, ऋषियों, ओषधियों और सत्यव्रत आदि की रक्षा-दीक्षा के लिए मत्स्यरूप धारण किया था। और प्रलय के समुद्र में स्वच्छन्द विहार किया था। आपके उस मत्स्यरूप को मैं नमस्कार करता हूँ। आपने ही मधु और कैटभ नाम के असुरों का संहार करने के लिए हयग्रीव का अवतार ग्रहण किया था। मैं आपके उस रूप को भी नमस्कार करता हूँ ॥१७॥

अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे।
क्षित्युद्धारविहाराय नमः सूकरमूर्तये ॥१८॥

आपने ही वह विशाल कच्छपरूप ग्रहण कर मन्दराचल को धारण किया था, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आपने ही पृथ्वी के उद्धार की लीला करने के लिए वराहरूप स्वीकार किया था, आपको मेरा बार-वार नमस्कार ॥१८॥

नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।
वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥१९॥

प्रह्लाद-जैसे साधुजनों का भेदभय मिटानेवाले प्रभो ! आपके उस अलौकिक नृसिंहरूप को मैं नमस्कार करता हूँ। आपने वामनरूप ग्रहण करके अपने पगों से तीनों लोक नाप लिये थे आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१९॥

नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ।
नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥२०॥

धर्म का उल्लंघन करनेवाले घमंडी क्षत्रियों के वन का छेदन कर देने के लिए आपने भृगुपति परशुराम का रूप ग्रहण किया था। मैं आपके उस रूप को नमस्कार करता हूँ। रावण का नाश करने के लिए आपने रघुवंश में भगवान् राम के रूप में अवतार ग्रहण किया था। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥२०॥

नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥२१॥

वैष्णवजनों तथा यदुवंशियों का पालन-पोषण करने के लिए आपने ही अपने को वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूह के रूप में प्रकट किया है। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥२१॥

नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।
म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥२२॥

दैत्य और दानवों को मोहित करने के लिए आप शुद्ध अहिंसामार्ग के प्रवर्तक बुद्ध का रूप ग्रहण करेंगे। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। और पृथ्वी के क्षत्रिय जब म्लेच्छप्राय हो जायेंगे, तब उनका नाश करने के लिए आप ही कवि कल्कि के रूप में अवतीर्ण होंगे। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥२२॥

भगवंजीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया ।
अहंममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥२३॥

भगवन् ! ये सारे जीव आपकी माया से मोहित हो रहे हैं और इस मोह के कारण ही 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' इस झूठे दुराग्रह में फँसकर कर्म के मार्गों में भटक रहे हैं ॥२३॥

अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु ।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेशु मूढः सत्यधिया विभो ॥२४॥

मेरे स्वामी ! इसी प्रकार मैं भी स्वप्न में दीखनेवाले पदार्थों के समान झूठे देह-गेह, पत्नी-पुत्र और धन-स्वजन आदि को सत्य समझकर उन्हीं के मोह में फँस रहा हूँ और भटक रहा हूँ ॥२४॥

अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् ।
द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम् ॥२५॥

मेरी मूर्खता तो देखिए, प्रभो ! मैंने अनित्य वस्तुओं को नित्य, अनात्मा को आत्मा और दुःख को सुख समझ लिया । भला, इस उलटी बुद्धि की भी कोई सीमा है । इस प्रकार अज्ञानवश सांसारिक सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में ही रम गया और यह वात विल्कुल भूल गया कि आप ही हमारे सच्चे प्रिय हैं ॥२५॥

यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः ।
अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं पराङ्मुखः ॥२६॥

जैसे कोई अनजान मनुष्य जल के लिए तालाव पर जाये और उसे उसीसे पैदा हुए सिवार आदि घासों को ढका देखकर ऐसा समझ ले कि यहाँ जल नहीं है, तथा सूर्य की किरणों में झूठमूठ प्रतीत होनेवाले जल के लिए मृगतृष्णा की ओर दौड़ पड़े, वैसे ही मैं अपनी ही माया से छिपे रहने के कारण आपको छोड़कर विपयों में सुख की आशा से भटक रहा हूँ ॥२६॥

नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।
रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥२७॥

मैं अविनाशी अक्षर वस्तु के ज्ञान से रहित हूँ । इसीसे मेरे मन में अनेक वस्तुओं की कामना और उनके लिए कर्म करने के संकल्प उठते ही रहते हैं । इसके अतिरिक्त ये इंद्रियाँ भी, जो बड़ी प्रबल एवं

दुर्दमनीय हैं, मन को मथ-मथकर बलपूर्वक इधर-उधर घसीट ले जाती हैं। इसीलिए इस मन को मैं रोक नहीं पाता ॥२७॥

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्ग—
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥२८॥

इस प्रकार भटकता हुआ मैं आपके उन चरणकमलों की छत्रछाया में आ पहुँचा हूँ, जो दुष्टों के लिए दुर्लभ हैं। मेरे स्वामी! इसे भी मैं आपका कृपाप्रसाद ही मानता हूँ। क्योंकि पद्मनाभ! जब जीव के संसार से मुक्त होने का समय आता है, तब सत्पुरुषों की उपासना से चित्तवृत्ति आपमें लगती है ॥२८॥

नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे।
पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥२९॥

प्रभो! आप केवल विज्ञानस्वरूप हैं, विज्ञानधन हैं। जितनी भी प्रतीतियाँ होती हैं, जितनी भी वृत्तियाँ हैं, उन सबके आप ही कारण और अधिष्ठान हैं। जीव के रूप में एवं जीवों के सुख-दुःख आदि के निमित्त काल, कर्म, स्वभाव और प्रकृति के रूप में भी आप ही हैं। उन सबके नियन्ता भी आप ही हैं। आपकी शक्तियाँ अनन्त हैं। आप स्वयं ब्रह्म हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥२९॥

नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च।
हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥३०॥

प्रभो! आप ही वासुदेव, आप ही समस्त जीवों के आश्रय (संकर्षण) हैं, तथा आप ही बुद्धि और मन अधिष्ठातृ-देवता हृषीकेश (प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। प्रभो! आप मुझ शरणागत की रक्षा कीजिए ॥३०॥

[स्कंध १०, अध्याय ४०]

वेदों द्वारा स्तुति

[परमात्मा आत्मरमण के हेतु योगनिद्रा स्वीकार करते हैं, और बाह्य रमण (लीला) के लिए सृष्टि रचने का संकल्प करते हैं। तब बंदी-जन जैसे सम्राट् की स्तुति करते हैं वैसे श्रुतियाँ प्रभु की महिमा का मंगलगान करती हैं। वेदों के तात्पर्य-दृष्टि से २८ भेद हैं। अतः यहाँ २८ श्रुतियों ने २८ श्लोकों से भी प्रभु की स्तुति की है।]

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ।।१।।

अजित ! आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं, आप पर कोई विजय प्राप्त नहीं कर सकता। आपकी जय हो, जय हो। प्रभो ! आप स्वभाव से ही समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, इसलिए चराचर प्राणियों को फँसानेवाली माया का नाश कर दीजिए। प्रभो ! इस गुणमयी माया ने दोष के लिए—जीवों के आनन्दादिमय सहज स्वरूप का आच्छादन करके उन्हें बन्धन में डालने के लिए ही सत्त्वादि गुणों को ग्रहण किया है। जगत् में जितना भी साधना, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ हैं, उन सबको

जगानेवाले आप ही हैं। इसलिए आपके मिटाये विना यह माया मिट नहीं सकती। (इस विषय में यदि प्रमाण पूछा जाये, तो आपकी श्वास-भूता श्रुतियाँ ही—हम ही प्रमाण हैं।) यद्यपि हम आपका स्वरूपतः वर्णन करने में असमर्थ हैं, तथापि जब कभी आप माया के द्वारा जगत् की सृष्टि करके सगुण हो जाते हैं, या उसका निषेध करके स्वरूप-स्थिति की लीला करते हैं, अथवा अपना सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीविग्रह प्रकट करके क्रीड़ा करते हैं, तभी हम यत्किंचित् आपका वर्णन करने में समर्थ होते हैं ॥१॥

> **बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया**
> **यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्।**
> **अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं**
> **कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥२॥**

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे द्वारा इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का भी वर्णन किया जाता है, परन्तु हमारे (श्रुतियों के) सारे मन्त्र अथवा सभी मन्त्रद्रष्टा ऋषि प्रतीत होनेवाले इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म-स्वरूप ही अनुभव करते हैं। जिस समय यह सारा जगत् नहीं रहता, उस समय भी आप वच रहते हैं। जैसे घट, प्याला-कसोरा आदि सभी विकार मिट्टी से ही उत्पन्न और उसीमें लीन होते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय आपमें ही होती है। तब क्या आप पृथ्वी के समान विकारी हैं? नहीं-नहीं, आप तो एकरस—निर्विकार हैं। इसीसे तो यह जगत् आपमें उत्पन्न नहीं, प्रतीत है। इसलिए जैसे घट, कसोरे आदि का वर्णन भी मिट्टी का ही वर्णन है, वैसे ही इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का वर्णन भी आपका ही वर्णन है। यही कारण है कि विचारशील ऋषि, मन से जो-कुछ सोचा जाता है और वाणी से जो-कुछ कहा जाता है, उसे आपमें ही स्थित, आपका ही स्वरूप देखते हैं। मनुष्य अपना पैर चाहे कहीं भी रखे—ईंट, पत्थर या काठ पर—होगा वह पृथ्वी पर ही, क्योंकि वे सब पृथ्वीस्वरूप ही हैं। इसलिए हम चाहे जिस नाम या जिस रूप का वर्णन करें, वह

आपका ही नाम है, आपका ही रूप है ॥२॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥३॥

भगवन् ! लोग सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों की माया से बने हुए अच्छे-बुरे भावों या अच्छी-बुरी क्रियाओं में उलझ जाया करते हैं; परन्तु आप तो उस मायानटी के स्वामी, उसको नचानेवाले हैं। इसीलिए विचारशील लोग आपकी लीला-कथा के अमृतसागर में गोते लगाते रहते हैं और इस प्रकार अपने सारे पाप-ताप को धो-बहा देते हैं। क्यों न हो, आपकी लीला-कथा सभी जीवों के मायामल को नष्ट करने-वाली जो है। पुरुषोत्तम ! जिन महापुरुषों ने आत्मज्ञान के द्वारा अन्तःकरण के राग-द्वेष आदि तथा शरीर के कालकृत जरा-मरण आदि दोष मिटा दिये हैं और निरन्तर आपके उस स्वरूप की अनुभूति में मग्न रहते हैं, जो अखण्ड आनन्दस्वरूप है, उन्होंने अपने पाप-तापों को सदा के लिए शान्त कर दिया है, भस्म कर दिया है—इसके विषय में अधिक क्या कहना है ॥३॥

दृतय इव श्वयन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥४॥

भगवन् ! प्राणधारियों के जीवन की सफलता इसी में है कि वे आपका भजन-सेवन करें, आपकी आज्ञा का पालन करें; यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनका जीवन व्यर्थ है और उनके शरीर में श्वास का चलना ठीक वैसा ही है, जैसा लुहार की धौंकनी में हवा का आना-जाना। महत्तत्त्व, अहंकार आदि ने आपके अनुग्रह से, आपके उनमें प्रवेश करने पर ही इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँचों कोशों में पुरुषरूप से

रहनेवाले उनमें 'मैं-मैं' की स्फूर्ति करनेवाले भी आप ही हैं। आपके ही अस्तित्व से उन कोशों के अस्तित्व का अनुभव होता है और उनके न रहने पर भी अन्तिम अवधि के रूप से आप विराजमान रहते हैं। इस प्रकार सबमें अन्वित और सबकी अवधि होने पर भी आप असंग ही हैं, क्योंकि वास्तव में जो-कुछ वृत्तियों के द्वारा 'अस्ति' अथवा 'नास्ति' के रूप में अनुभव होता है, उन समस्त कार्य-कारणों से आप परे हैं। 'नेति-नेति' के द्वारा इन सबका निषेध हो जाने पर भी आप ही शेष रहते हैं, क्योंकि आप उस निषेध के भी साक्षी हैं और वास्तव में आपही एक-मात्र सत्य हैं। (इसलिए आपके भजन के विना जीव का जीवन व्यर्थ ही है, क्योंकि वह इस महान् सत्य से वंचित है) ।।४।।

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ।।५।।

ऋषियों ने आपकी प्राप्ति के लिए अनेक मार्ग माने हैं। उनमें जो स्थूल दृष्टिवाले हैं, वे मणिपूरक चक्र में अग्निरूप से आपकी उपासना करते हैं। अरुणवंश के ऋषि समस्त नाड़ियों के निकलने के स्थान हृदय में आपके परम सूक्ष्मस्वरूप दहर ब्रह्म की उपासना करते हैं। प्रभो ! हृदय से ही आपको प्राप्त करने का श्रेष्ठ मार्ग सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र तक गई हुई है। जो पुरुष उस ज्योतिर्मय मार्ग को प्राप्त कर लेता है और उससे ऊपर की ओर बढ़ता है, वह फिर जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ता ।।५।।

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ।।६।।

भगवन् ! आपने ही देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि योनियाँ बनाई हैं। सदा-सर्वत्र सब रूपों में आप हैं, इसलिए कारणरूप से प्रवेश

न करने पर भी आप ऐसे जान पड़ते हैं, मानो उसमें प्रविष्ट हुए हों। साथ ही, विभिन्न आकृतियों का अनुकरण करके कहीं उत्तम, तो कहीं अधमरूप से प्रतीत होते हैं, जैसे आग छोटी-बड़ी लकड़ियों और कर्मों के अनुसार प्रचुर अथवा अल्प परिमाण में या उत्तम-अधमरूप में प्रतीत होती है। इसलिए संत पुरुष लौकिक-पारलौकिक कर्मों की दूकानदारो से, उनके फलों से विरक्त हो जाते हैं और निर्मल बुद्धि से सत्य-असत्य, आत्मा-अनात्मा को पहचानकर जगत् के झूठे रूपों में नहीं फँसते, आपके सर्वत्र एकरस, समभाव से स्थित सत्यस्वरूप का साक्षात्कार करते हैं ॥६॥

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिल शक्तिधृतोंऽशकृतम्।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥७॥

प्रभो! जीव जिन शरीरों में रहता है, वे उसके कर्म के द्वारा निर्मित होते हैं और वास्तव में उन शरीरों के कार्य-कारणरूप आवरणों से वह रहित है, क्योंकि वस्तुतः उन आवरणों की सत्ता ही नहीं है। तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा कहते हैं कि समस्त शक्तियों को धारण करनेवाले आपका ही वह स्वरूप है। स्वरूप होने के कारण अंश न होने पर भी उसे अंश कहते हैं और निर्मित न होने पर भी निर्मित कहते हैं। इसीसे बुद्धिमान् पुरुष जीव के वास्तविक स्वरूप पर विचार करके परम-विश्वास के साथ आपके चरणकमलों की उपासना करते हैं, क्योंकि आपके चरण ही समस्त वैदिक कर्मों के समर्पण-स्थान और मोक्ष-स्वरूप हैं ॥७॥

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः ॥८॥

भगवन्! परमात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन

है। उसी का ज्ञान कराने के लिए आप विविध प्रकार के अवतार लेते हैं और उनके द्वारा ऐसी लीला करते हैं, जो अमृत के महासागर से भी मधुर और मादक होती है। जो लोग उसका सेवन करते हैं, उनकी सारी थकावट दूर हो जाती है, वे परमानन्द में मग्न हो जाते हैं। कुछ प्रेमी भक्त तो ऐसे होते हैं, जो आपकी लीला-कथाओं को छोड़कर मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं करते—स्वर्ग आदि की तो वात ही क्या है। वे आपके चरणकमलों के प्रेमी परमहंसों के सत्संग में, जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं कि उसके लिए इस जीवन में प्राप्त अपनी घर-गृहस्थी का भी परित्याग कर देते हैं ॥८॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव—
च्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥९॥

प्रभो! यह शरीर आपकी सेवा का साधन होकर जब आपके पथ का अनुरागी हो जाता है, तब आत्मा हितैषी, सुहृद और प्रिय व्यक्ति के समान आचरण करता है। आप जीव के सच्चे हितैषी, प्रियतम और आत्मा ही हैं और सदा-सर्वदा जीव को अपनाने के लिए तैयार रहते हैं। इतनी सुगमता होने पर तथा अनुकूल मानव-शरीर पाकर भी लोग सख्यभाव आदि के द्वारा आपकी उपासना नहीं करते, आपमें नहीं रमते, वल्कि इस विनाशी और असत् शरीर तथा उसके सम्वन्धियों में ही रम जाते हैं, उन्हीं की उपासना करने लगते हैं और इस प्रकार अपनी आत्मा का हनन करते हैं, उसे अधोगति में पहुँचाते हैं। भला, यह कितने कष्ट की बात है! इसका फल यह होता है कि उनकी सारी वृत्तियाँ, सारी वासनाएँ शरीर आदि में ही लग जाती हैं और फिर उनके अनुसार उनको पशु-पक्षी आदि के न जाने कितने बुरे-बुरे शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं और इस प्रकार अत्यन्त भयावह जन्म-मृत्युरूप संसार में उन्हें भटकना पड़ता है ॥९॥

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य—
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥१०॥

प्रभो! बड़े-बड़े विचारशील योगी-यति अपने प्राण, मन और इन्द्रियों को वश में करके दृढ़ योगाभ्यास के द्वारा हृदय में आपकी उपासना करते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्हें जिस पद की प्राप्ति होती है, उसी की प्राप्ति उन शत्रुओं को भी हो जाती है, जो आपसे वैर-भाव रखते हैं, क्योंकि स्मरण तो वे भी करते ही हैं। कहाँ तक कहें, भगवन्! वे स्त्रियाँ, जो अज्ञानवश आपको परिच्छिन्न मानती हैं और आपकी शेषनाग के समान मोटी, लम्बी तथा सुकुमार भुजाओं के प्रति कामभाव से आसक्त रहती हैं, जिस परमपद को प्राप्त करती हैं, वही पद हम श्रुतियों को भी प्राप्त होता है—यद्यपि हम आपको सदा-सर्वदा एकरस अनुभव करती हैं और आपके चरणारविन्द का मकरन्द-रस पान करती रहती हैं। क्यों न हो, आप समदर्शी जो हैं। आपकी दृष्टि में उपासक के परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न भाव में कोई अन्तर नहीं है ॥१०॥

क इह नु वेद बातावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥११॥

भगवन्! आप अनादि और अनन्त हैं। जिसका जन्म और मृत्यु काल से सीमित है, वह भला, आपको कैसे जान सकता है? स्वयं ब्रह्मा, निवृत्तिपरायण सनकादि तथा प्रवृत्तिपरायण मरीचि आदि भी बहुत पीछे आपसे ही उत्पन्न हुए हैं। जिस समय आप सबको समेटकर सो जाते हैं, उस समय ऐसा कोई साधन नहीं रह जाता, जिससे उनके साथ ही सोया हुआ जीव आपको जान सके। उस समय न तो आकाश-आदि स्थूल जगत् रहता है और न महत्तत्त्वादि सूक्ष्म जगत्। इन

दोनों से बने हुए शरीर और उनके निमित्त क्षण-मुहूर्त आदि काल के अंग भी नहीं रहते। उस समय कुछ भी नहीं रहता। यहाँ तक कि शास्त्र भी आपमें ही समा जाते हैं (ऐसी अवस्था में आपको जानने की चेष्टा न करके आपका भजन करना ही सर्वोत्तम मार्ग है।)॥११॥

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुषितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे॥१२॥

प्रभो! कुछ लोग मानते हैं कि असत् से जगत् की उत्पत्ति होती है और कुछ लोग कहते हैं कि सत्-रूप दुःखों का नाश होने पर मुक्ति मिलती है। दूसरे लोग आतमा को अनेक मानते हैं, तो कई लोग कर्म के द्वारा प्राप्त होनेवाले लोक और परलोकरूप व्यवहार को सत्य मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी बातें भ्रममूलक हैं और वे आरोप करके ही ऐसा उपदेश करते हैं। पुरुष त्रिगुणमय है—इस प्रकार का भेदभाव केवल अज्ञान से ही होता है और आप अज्ञान से सर्वथा परे हैं। इसलिए ज्ञानस्वरूप आपमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है॥१२॥

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः।
नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्॥१३॥

यह त्रिगुणात्मक जगत् मन की मात्र कल्पना है। केवल यही नहीं, परमात्मा और जगत् से पृथक् प्रतीत होनेवाला पुरुष भी कल्पना-मात्र ही है। इस प्रकार वास्तव में असत् होने पर भी अपने सत्य अधिष्ठान आपकी सत्ता के कारण यह सत्य-सा प्रतीत हो रहा है। इसलिए भोक्ता, भोग्य और दोनों के संबंध को सिद्ध करनेवाली इन्द्रियाँ आदि जितना भी जगत् है सबको आत्मज्ञानी पुरुष आत्मरूप से सत्य ही मानते हैं। सोने से बने हुए कड़े, कुण्डल आदि स्वर्णरूप ही

तो हैं; इसलिए उनको इस रूप में जाननेवाला उन्हें छोड़ता नहीं, यह समझता है कि यह भी सोना है। इसी प्रकार यह जगत् आत्मा में ही कल्पित, आत्मा से ही व्याप्त है; इसलिए आत्मज्ञानी इसे आत्मरूप ही मानते हैं ॥१३॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां—
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥१४॥

भगवन् ! जो लोग यह समझते हैं कि आप समस्त प्राणियों और पदार्थों के अधिष्टान हैं, सबके आधार हैं और सर्वात्मभाव से आपका भजन-सेवन करते हैं, वे मृत्यु को तुच्छ समझकर उसके सिर पर लात मारते हैं अर्थात् उस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग आपसे विमुख हैं, वे चाहे जितने बड़े विद्वान् हों, उन्हें आप कर्मों का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों से पशुओं के समान बाँध लेते हैं। इसके विपरीत, जिन्होंने आपके साथ प्रेम का संबंध जोड़ रखा है, वे न केवल अपने को बल्कि दूसरों को भी पवित्र कर देते हैं—जगत् के वन्धन से छुड़ा देते हैं। ऐसा सौभाग्य भला, आपसे विमुख लोगों को कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥१४॥

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर—
स्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥१५॥

प्रभो ! आप मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि करणों से—चिन्तन, कर्म आदि के साधनों से सर्वथा रहित हैं। फिर भी आप समस्त अन्तः-करण और बाह्य करणों की शक्तियों से सदा-सर्वदा सम्पन्न हैं। आप स्वतःसिद्ध ज्ञानवान्, स्वयंप्रकाश हैं; अतः कोई काम करने के लिए आपको इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। जैसे छोटे-छोटे राजा अपनी-अपनी प्रजा से कर लेकर स्वयं अपने को सम्राट् वना लेते हैं, वैसे ही

मनुष्यों के पूज्य देवता और देवताओं के पूज्य ब्रह्मा आदि भी अपने अधिकृत प्राणियों से पूजा स्वीकार करते हैं और माया के अधीन होकर आपकी पूजा करते रहते हैं। वे इस प्रकार आपकी पूजा करते हैं कि आपने जहाँ जो कर्म करने के लिए उन्हें नियुक्त कर दिया है, वे आपसे भयभीत रहकर वहीं वह काम करते रहते हैं ॥१५॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥१६॥

नित्यमुक्त ! आप मायातीत हैं; फिर भी जब अपने ईक्षण-मात्र से—संकल्प-मात्र से माया के साथ आप क्रीड़ा करते हैं, तब आपका संकेत पाते ही जीवों के सूक्ष्म शरीर और उनके सुप्त कर्म-संस्कार जग जाते हैं और चराचर प्राणियों की उत्पत्ति होती है। प्रभो ! आप परम दयालु हैं। आकाश के समान सबमें सम होने के कारण न तो कोई आपका अपना है और न पराया। वास्तव में तो आपके स्वरूप में मन और वाणी की गति ही नहीं है। आपमें कार्य-कारणरूप प्रपंच का अभाव होने से वाह्य दृष्टि से आप शून्य के समान ही जान पड़ते हैं, परन्तु उस दृष्टि के भी अधिष्ठान होने के कारण आप परमसत्य हैं ॥१६॥

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता–
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥१७॥

भगवन् ! आप नित्य एकरस हैं। यदि जीव असंख्य हों और सब-के-सब नित्य एवं सर्वव्यापक हों, तब तो वे आपके समान ही हो जायेंगे, उस हालत में वे शासित हैं और आप शासक—यह बात बन ही नहीं सकती, और तब आप उनका नियन्त्रण कर ही नहीं सकते। उनका नियन्त्रण आप तभी कर सकते हैं, जब वे आपसे उत्पन्न तथा आपकी

अपेक्षा न्यून हों। इसमें सन्देह नहीं कि ये सब-के-सब जीव तथा इनकी एकता या विभिन्नता आपसे ही उत्पन्न हुई है। इसलिए आप उनमें कारणरूप से रहते हुए भी उनके नियामक हैं। वास्तव में आप उनमें समरूप से स्थित हैं। परन्तु यह जाना नहीं जा सकता कि आपका वह स्वरूप कैसा है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि हमने जान लिया, उन्होंने वास्तव में आपको नहीं जाना; उन्होंने तो केवल अपनी बुद्धि के विषय को जाना है, जिससे कि आप परे हैं। और साथ ही, मति के द्वारा जितनी वस्तुएँ जानी जाती हैं, वे मतियों की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न होती हैं; इसलिए एक मत के साथ दूसरे मत का विरोध प्रत्यक्ष ही है। अतएव आपका स्वरूप समस्त मतों के परे है ॥१७॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सति इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥१८॥

स्वामिन्! जीव आपसे उत्पन्न होता है, यह कहने का अर्थ ऐसा नहीं है कि आप परिणाम के द्वारा जीव बनते हैं। सिद्धान्त तो यह है कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अजन्मा हैं। अर्थात् उनका वास्तविक स्वरूप—जो आप हैं—कभी वृत्तियों के अन्दर उतरता नहीं, जन्म नहीं लेता। तब प्राणियों का जन्म कैसे होता है? अज्ञान के कारण प्रकृति को पुरुष और पुरुष को प्रकृति समझ लेने से, एक का दूसरे के साथ संयोग हो जाने से जैसे 'बुलबुला' नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, परन्तु उपादान-कारण जल और निमित्त-कारण वायु के संयोग से उसकी सृष्टि हो जाती है। प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति का अध्यास (एक में दूसरे की कल्पना) हो जाने के कारण ही जीवों के विविध नाम और गुण रख लिये जाते हैं। अन्त में जैसे समुद्र में नदियाँ और मधु में समस्त पुष्पों के रस समा जाते हैं, वैसे ही वे सब-के-सब उपाधिरहित आपमें समा जाते हैं। (इसलिए जीवों की भिन्नता और उनका पृथक् अस्तित्व आपके द्वारा नियंत्रित है। उनकी पृथक्

स्वतंत्रता और सर्वव्यापकता आदि वास्तविक सत्य को न जानने के कारण ही मानी जाती है) ॥१८॥

नृषु तव मायया भ्रममभीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम्।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद् भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥१९॥

भगवन् ! सभी जीव आपकी माया से भ्रम में भटक रहे हैं, अपने को आपसे पृथक् मानकर जन्म-मृत्यु का चक्कर काट रहे हैं। परन्तु बुद्धिमान् लोग इस भ्रम को समझ लेते हैं और संपूर्ण भक्तिभाव से आपकी शरण ग्रहण करते हैं, क्योंकि आप जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुड़ानेवाले हैं। यद्यपि शीत, ग्रीष्म और वर्षा—इन तीन भागोंवाला कालचक्र आपका भ्रूविलास-मात्र है, वह सभी को भयभीत करता है, परन्तु वह उन्हीं को बार-बार भयभीत करता है जो आपकी शरण नहीं लेते। जो आपके शरणागत भक्त हैं, उन्हें भला, जन्म-मृत्युरूप संसार का भय कैसे हो सकता है ? ॥१९॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥२०॥

अजन्मा प्रभो ! जिन योगियों ने अपनी इन्द्रियों और प्राणों को वश में कर लिया है, वे भी, जब गुरुदेव के चरणों की शरण न लेकर उच्छृंखल एवं अत्यन्त चंचल मन-तुरंग को अपने वश में करने का यत्न करते हैं, तब अपने साधनों में सफल नहीं होते। उन्हें बार-बार खेद और सैकड़ों विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दुःख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है, जैसी समुद्र में बिना कर्णधार की नाव पर यात्रा करनेवाले व्यापारियों की होती है। (तात्पर्य यह कि जो मन को वश में करना चाहते हैं, उनके लिए कर्णधार—गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है) ॥२०॥

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥२१॥

भगवन् ! आप अखण्ड आनन्दस्वरूप और शरणागतों के आत्मा हैं। आपके रहते स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, महल, पृथ्वी, प्राण और रथ आदि से क्या प्रयोजन है ? जो लोग इस सत्य सिद्धान्त को न जानकर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से होनेवाले सुखों में ही रम रहे हैं, उन्हें संसार में भला, ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सुखी कर सके ? क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ स्वभाव से ही विनाशी हैं. एक-न-एक दिन मटियामेट हो जानेवाली हैं। और तो क्या, वे स्वरूप से ही सारहीन और सत्ताहीन हैं। वे भला, क्या सुख दे सकती हैं ? ॥२१॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥२२॥

भगवन् ! जो ऐश्वर्य, लक्ष्मी, विद्या, जाति, तपस्या आदि के घमण्ड से रहित हैं, वे संतजन इस पृथ्वीतल पर परमपवित्र और सबको पवित्र करनेवाले पुण्यमय सच्चे तीर्थ-स्थान हैं। उनके हृदय में आपके चरणारविन्द सर्वदा विराजमान रहते हैं और यही कारण है कि उन संतजनों का चरणामृत समस्त पापों और तापों को सदा के लिए नष्ट कर देता है। भगवन् ! आप नित्य-आनन्दस्वरूप आत्मा ही हैं। जो एक बार भी आपको अपना मन समर्पित कर देते हैं—आपमें मन लगा देते हैं—वे उन देह-गेहों में कभी नहीं फँसते, जो जीव के विवेक, वैराग्य, धैर्य, क्षमा, शान्ति आदि गुणों का नाश करनेवाले हैं। वे तो बस, आपमें ही रम जाते हैं ॥२२॥

सत इदमुत्थितं
सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च
क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प
इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त
उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥२३॥

भगवन् ! जैसे मिट्टी से बना हुआ घड़ा मिट्टीरूप ही होता है, वैसे ही सत् से बना हुआ जगत् भी सत् ही है—यह बात युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि कारण और कार्य का निर्देश ही उनके भेद का द्योतक है। यदि केवल भेद का निषेध करने के लिए ही ऐसा कहा जा रहा हो तो पिता और पुत्र में, दण्ड और घटनाश में कार्य-कारणभाव होने पर भी वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार कार्य-कारण की एकता सर्वत्र एक-सी नहीं देखी जाती। यदि कारण शब्द से निमित्त-कारण न लेकर केवल उपादान-कारण लिया जाये, जैसे कुण्डल का सोना—तो भी कहीं-कहीं कार्य की असत्यता प्रमाणित होती है, जैसे रस्सी में साँप। यहाँ उपादान-कारण के सत्य होने पर भी उसका कार्य सर्प सर्वथा असत्य है। यदि यह कहा जाये कि प्रतीत होनेवाले सर्प का उपादान-कारण केवल रस्सी नहीं है, उसके साथ अविद्या का, भ्रम का मेल भी है, तो यह समझना चाहिए कि अविद्या और सत् वस्तु के संयोग से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। इसलिए जैसे रस्सी में प्रतीत होनेवाला सर्प मिथ्या है, वैसे ही सत् वस्तु में अविद्या के संयोग से प्रतीत होनेवाला नाम-रूपात्मक जगत् भी मिथ्या है। यदि केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए ही जगत् की सत्ता अभीष्ट हो, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि वह पारमार्थिक सत्य न होकर केवल व्यावहारिक सत्य है। यह भ्रम व्यावहारिक जगत् में माने हुए काल की दृष्टि से अनादि है; और अज्ञानीजन विना विचार किये पूर्व-पूर्व के भ्रम से

प्रेरित होकर अन्ध-परम्परा से इसे मानते चले आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में कर्मफल को सत्य वतलानेवाली श्रुतियाँ केवल उन्हीं लोगों को भ्रम में डालती हैं, जो कर्म में जड़ हो रहे हैं और यह नहीं समझते कि इनका तात्पर्य कर्मफल की नित्यता वतलाने में नहीं, वल्कि उनकी प्रशंसा करके उन कर्मों में लगाने में है ।।२३।।

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना—
दनु मितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै:—
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ।।२४।।

भगवन् ! सही वात तो यह है कि यह जगत् उत्पत्ति के पहले नहीं था और प्रलय के वाद नहीं रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि यह बीच में भी एकरस परमात्मा में मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। इसीसे हम श्रुतियाँ इस जगत् का वर्णन ऐसी उपमा देकर करती हैं कि जैसे मिट्टी में घड़ा, लोहे में शस्त्र और सोने में कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तव में मिट्टी, लोहा और सोना ही हैं। वैसे ही परमात्मा में वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या और मन की कल्पना है। इसे नासमझ मूर्ख ही सत्य मानते हैं ।।२४।।

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ।।२५।।

भगवन् ! जव जीव माया से मोहित होकर अविद्या को अपना लेता है, उस समय उसके स्वरूपभूत आनन्दादि गुण ढक जाते हैं। वह गुणजन्य वृत्तियों, इन्द्रियों और देहों में फँस जाता है और उन्हीं को अपना आपा मानकर उनकी सेवा करने लगता है। अव उनकी जन्म-मृत्यु में अपनी जन्म-मृत्यु मानकर उनके चक्कर में पड़ जाता है। परन्तु प्रभो ! जैसे साँप अपने केंचुल से कोई संबंध नहीं रखता, उसे छोड़ देता है वैसे ही आप माया—अविद्या से कोई संबंध नहीं रखते,

उसे सदा-सर्वदा छोड़े रहते हैं। इसीसे आपके संपूर्ण ऐश्वर्य, सदा-सर्वदा आपके साथ रहते हैं। अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों से युक्त परमैश्वर्य में आपकी स्थिति है। इसीसे आपका ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य अपरिमित है, अनन्त है; वह देश, काल और वस्तुओं की सीमा से आबद्ध नहीं है ॥२५॥

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव—
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः ॥२६॥

भगवन् ! यदि मनुष्य योगी-यति होकर भी अपने हृदय की विषय-वासनाओं को उखाड़ नहीं फेंकते, तो उन असाधकों के लिए आप हृदय में रहने पर भी वैसे ही दुर्लभ हैं, जैसे कोई अपने गले में मणि पहने हुए हो, परन्तु उसकी याद न रहने पर उसे ढूँढ़ता फिरे इधर-उधर। जो साधक अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने में ही लगे रहते हैं, विषयों से विरक्त नहीं होते, उन्हें जीवन-भर और जीवन के बाद भी दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है, क्योंकि वे साधक नहीं, दम्भी हैं। एक तो अभी उन्हें मृत्यु से छुटकारा नहीं मिला है, लोगों को रिझाने, धन कमाने आदि के क्लेश उठाने पड़ रहे हैं, और दूसरे आपका स्वरूप न जानने के कारण अपने धर्म-कर्म का उल्लंघन करने से परलोक में नरक आदि प्राप्त होने का भय भी बना ही रहता है ॥२६॥

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो—
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥२७॥

भगवन् ! आपके वास्तविक स्वरूप को जाननेवाला मनुष्य आपके दिये हुए पुण्य और पापकर्मों के फल सुख तथा दुःखों को नहीं जानता, नहीं भोगता; वह भोग्य और भोक्तापन के भाव से ऊपर उठ जाता है। उस समय विधि-निषेध के प्रतिपादक शास्त्र भी उससे निवृत्त हो

जाते हैं, क्योंकि वे देहाभिमानियों के लिए हैं। उनकी ओर तो उसका ध्यान ही नहीं जाता। जिसे आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ है, वह भी यदि प्रतिदिन आपकी प्रत्येक युग में की हुई लीलाओं, गुणों का गान सुन-सुनकर उनके द्वारा आपको अपने हृदय में बैठा लेता है तो अनन्त, अचिन्त्य, दिव्यगुणगणों के निवासस्थान प्रभो! आपका वह प्रेमी भक्त भी पाप-पुण्यों के फल सुख-दुःखों और विधि-निषेधों से अतीत हो जाता है, क्योंकि आप ही उनकी मोक्षस्वरूप गति हैं। (इन ज्ञानी और प्रेमियों को छोड़कर और सभी शास्त्रबन्धन में हैं तथा वे उसका उल्लंघन करने पर दुर्गति को प्राप्त होते हैं) ॥२७॥

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय—
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥२८॥

भगवन्! स्वर्गादि लोकों के अधिपति इन्द्र, ब्रह्मा आदि भी आपकी थाह—आपका पार न पा सके। और आश्चर्य की बात तो यह है कि आप भी उसे नहीं जानते। क्योंकि जब अन्त है ही नहीं, तब कोई जानेगा कैसे? प्रभो! जैसे आकाश में हवा से धूल के नन्हे-नन्हे कण उड़ते रहते हैं, वैसे ही आप में काल के वेग से अपने से उत्तरोत्तर दस-गुने सात आवरणों के सहित असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ ही घूमते रहते हैं। तब भला, आपकी सीमा कैसे मिले? हम श्रुतियाँ भी आपके स्वरूप का साक्षात् वर्णन नहीं कर सकतीं, आपके अतिरिक्त वस्तुओं का निषेध करते-करते अन्त में अपना भी निषेध कर देती हैं और आपमें ही अपनी सत्ता को खोकर सफल हो जाती हैं ॥२८॥

[स्कंध १०, अध्याय ८७]

भक्त-कीर्तन

ध्रुव-गीत

कह्यां नारद सौं करौ सहाइ। करौ भक्ति हरि की चित लाइ।
तुम नारायन-भक्त कहावत। केहि कारन हमको भरमावत ?
तव नारद ध्रुव कौं दृढ़ देखि। कहौ, देउँ मैं ज्ञान विसेषि।
मथुरा जाइ सु सुमिरन करौ। हरि कौ ध्यान हृदय में धरौ।
द्वादस अच्छर मंत्र सुनायौ। और चतुर्भुज रूप बतायौ।
मथुरा जाइ सोइ उन कियौ। तव नारायन दरसन दियौ।
ध्रुव अस्तुति कीन्हौ बहु भाइ। तब हरिजू बोले मुसुकाइ।
ध्रुव जो तेरी इच्छा होइ। माँगि लेहि अब मोपै सोइ।
प्रभु, मैं तुम्हरो दरसन लह्यो। माँगन कौं पाछैं कहा रह्यौ ?
हरि कह्यौ, राज-हंत तप कियौ। ध्रुव प्रसन्न ह्वै मैं तोहि दियौ।
अरु तेरे हित कियौ अस्थान। देहि प्रदच्छिन जहँ ससि-भान।
ग्रह - नछत्रहू सबही फिरैं। तू भयौ अटल, न कबहूँ टरै।
अरु पुनि महाप्रलय जव होइ। मुक्ति स्थान पाइहै सोइ।
यह कहि हरि निज लोक सिधारे। ध्रुव निज पुर कौं पुनि पग धारे।
जब ध्रुव पुर कैं बाहर आयौ। लोगनि नृप कौं जाइ सुनायौ।
उनके कहैं 'न मन में आई। तब नारद कह्यौ नृप सौं जाई।
ध्रुव आयौ हरि सौं वर पाइ। राजा, जाइ ताहि मिलि धाइ।
नृप सुनि मन आनंद बढ़ायौ। अंतःपुर मैं जाइ सुनायौ।
पुनि नृप कुटुंब सहित यहँ आए। नगर लोग सब सुनि उठि धाए।
ध्रुव राजा के चरननि परयौ। राजा कंठ लाइ हित करयौ।
पुनि सो सुरुचि कैं चरननि परयौ। तासौं वचन मधुर उच्चरयौ।

तव उपदेश मैं हरि कौं ध्यायौ। यह उपकार न जात मिटायौ।
पुनि माता के पायनि परयौ। माता ध्रुव को अंक मैं भरयौ।
ध्रुव निज सिंहासन बैठाए। नृप तप-कारन बनहिं सिधाए।
सातौं द्वीप राज ध्रुव कियौ। सीतल भयौ मातु कौ हियौ।
यौं भयौ ध्रुव-वर-देनवतार। सूर कह्यौ भागवतनुसार।

—सूरसागर

प्रह्लाद-गीत

तुम्हरै हेत लियौ अवतार। अब तुम जाइ करौ मनुहार।
तब प्रहलाद निकट-हरि आइ। करि दंडवत परयौ गहि पाइ।
तब नरहरिजू ताहि उठाइ। ह्वै कृपाल बोले या भाइ।
कहु जो मनोरथ तेरौ होइ। छांड़ि बिलंब करौ अब सोइ।
दीनानाथ, दयाल, मुरारी। मम हित तुम लीन्हौ अवतार।
असुर असुचि है मेरी जाति। मोहि सनाथ कियौ सब भाँति।
भक्त तुम्हारी इच्छा करैं। ऐसे असुर किते संहरैं।
भक्तनि हित तुम धारी देह। तरिहैं गाइ-गाइ गुन एह।
जग-प्रभुत्व प्रभु, देख्यौ जोइ। सपन-तुल्य छनभंगुर सोइ।
इन्द्रादिक जातै भय करयौ। सो मन पिता मृतक ह्वै परयौ।
साधु-संग प्रभु, मोकौं दीजै। तिहि संगति निज भक्ति करीजै।
और न मेरी इच्छा कोइ। भक्ति अनन्य तुम्हारी होइ।
और जो मो पर किरपा करौ। तो सब जीवनि कौं उद्धरौ।
जो कहौ, कर्मयोग जब करिहैं। तब ये जीव सकल निस्तरिहैं।
मम कृत इनके बदले लेहु। इनके कर्म सकल मोहि देहु।
मोकौं नरक माहिं लै डारौ। पै प्रभुजू इनकौ निस्तारौ!

—सूरसागर

ऐसी को सकै करि बिनु मुरारी।
कहत प्रहलाद के धारि नरसिंह वपु, निकसि आए तुरत खंभ फारी।
हिरनकस्यप निरखि रूप चकित भयौ, वहुरि कर लै गदा असुर धायौ।
हरि गदा-जुद्ध तासौं कियौ, भली विधि, वहुरि संध्या समय होन आयौ।
गहि असुर धाइ, पुनि नाइ निज जंघ पर, नखनिसौं उदर डारचौ विदारी।
देखि यह सुरनि वर्षा करी पुहुप की, सिद्ध-गंधर्व जय-धुनि उचारी।
वहुरि वहु भाइ प्रहलाद अस्तुति करो, ताहि दै राज वैकुंठ सिधाए।
भक्त कैं हेत हरि धरचौ नरसिंह-वपु, सूर जन जानि यह सरन आए।

—सूरसागर

गजेन्द्र-गीत

गज-मोचन ज्यौं भयौ अवतार। कहौं, सुनौ सो अव चित धार।
गंध्रव एक नदी मैं जाइ। देवल रिषि कौं पकरचौ पाइ।
देवल कह्यौ, ग्राह तू होहि। कह्यौ गंधर्व दया करि मोहिं।
जब गजेंद्र कौ पग तू गैहे। हरिजू ताकौं आनि छुटैहें।
भए अस्पर्स देव-तन धरिहै। मेरौ कह्यौ नाहिं यह टरिहैं।
राजा इन्द्रद्युम्न कियौ ध्यान। आए अगस्त्य, नहीं तिन जान।
दियौ साप गजेंद्र तू होहि। कह्यो नृप, दया करौ रिषि मोहि।
कह्यौ, तोहि ग्राह आनि जब गैहे। तू नारायन सुमिरन कैहे।
याही विधि तेरी गति होइ। भयौ त्रिकूट पर्वत गज सोइ।
कालहि पाइ ग्राह गज गह्यौ। गज वल करि-करि है थकि रह्यौ।
सुन पत्नीहू वल करि रहे। छुटचौ नहीं ग्राह के गहे।
ते सब भूखे, दुःखित भए। गज कौ मोह छाँड़ि उठ गए।
तव गज हरि की सरनहिं आयौ। सूरदास प्रभु ताहि छुड़ायौ।

—सूरसागर

माधोजू, गज ग्राह तैं छुड़ायौ।
निगमनिहू मन-बचन-अगोचर, प्रगट सो रूप दिखायौ।
सिव-विरंचि देखत सब ठाड़े, वहुत दीन दुख पायौ।
विन बदलै उपकार करे को, काहू करत न आयौ।

चिंतन ही चित मैं चिंतामनि, चक्र लिये कर धायौ।
अति करुना-कातर करुनामय, गरुड़हु कौं छुटकायौ।
सुनियत सुजस जो निज जन कारन कबहुँ न गहरु लगायौ।
ना जानौ सूरहिं इहि औसर, कौन दोष बिसरायौ।

—सूरसागर

हरबर चक्र धरै हरि धावत।
गरुड़ समेत सकल सेनापति पाछैं लागे आवत।
चलि नहीं सकत गरुड़ मन डरपत, बुधि बल बलहिं बढ़ावत।
मनहूँ तैं अति बेग अधिक करि, हरिजू चरन चलावत।
को जानै प्रभु कहाँ चले हैं, काहूँ कछु न जनावत।
अति व्याकुल गति देखि देव-गन, सोचि सकल दुख पावत।
गज-हित भावन, जन मुकरावन, वेद बिमल जस गावत।
सूर समुझि, समुझाइ अनाथनि, इहि बिधि नाथ छुड़ावत।

—सूरसागर

अब हौं सब दिसि हेरि रह्यो।
राखत नाहिं कोउ करुनानिधि, अति बल ग्राह गह्यौ।
सुर, नर सब स्वारथ के गाहक, कत स्रम आनि करैं।
उडगन उदित तिमिर नहिं नासत, बिन रवि रूप धरैं।
इतनी बात सुनत करुनामय, चक्र गहे कर धाए।
हति गज-सत्रु सूर के स्वामी, ततछन सुख उपजाए।

—सूरसागर

वेद-स्तुति

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने॥
अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥१॥
तव बिषम मायाबस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिधि दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे॥२॥
जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भवनाथ सो समरामहे॥३॥
जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनि बंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥४॥
अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥५॥
जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥६॥

—रामचरितमानस